प्रथम अध्याय

जैन भक्ति : धार्मिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि

जैन भक्ति : धार्मिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि

जैन धर्म भारत के सांस्कृतिक इतिहास में आर्हतधर्म, जिनधर्म, श्रमण परम्परा, निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय, तीर्थंकर परम्परा आदि नामों से अभिहित हुआ है।

पुरातात्विक एवं साहित्यिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि भारत में सुदूर अतीत से ले कर ब्राह्मण और श्रमण दो विभिन्न विचारधाराओं का समानान्तर विकास हुआ है। यह भिन्नता और वैशिष्ट्य चिन्तन के स्तर पर दार्शनिक तत्व-मीमांसा और ज्ञानमीमांसा में तथा सामाजिक मूल्यों और जीवनदृष्टि के रूप में आचारशास्त्रीय सिद्धान्तों में विकसित और निरूपित हुआ है। प्राचीन भारतीय भाषाओं में जो साहित्य रचा गया, उसमें स्पष्ट रूप से इस भिन्नता और वैशिष्ट्य के दर्शन होते हैं। बाद के साहित्यकारों के लिए यह साहित्य और इसमें प्रतिपादित चिन्तन एवं जीवनमूल्य आधार बिन्दु बने।

ब्राह्मण और श्रमण दोनों परम्पराओं में भक्तिसिद्धान्त और भक्तिचर्या का स्वतन्त्र रूप से विकास हुआ है। साहित्य तथा जीवनमूल्यों में यह स्पष्ट रूप से प्रतिफलित हुआ है। इसलिए इन दोनों परम्पराओं के धार्मिक और दार्शनिक आधारों को जाने बिना भक्ति की सिद्धान्तगत मौलिकताओं और विशेषताओं को नहीं समझा जा सकता।

जैन धर्म में भक्ति का महत्वपूर्ण स्थान है। उपलब्ध प्राचीनतम अभिलेखीय साक्ष्यों से लेकर प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी तथा भारत की विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में निबद्ध जैनाचार्यों, मनीषियों और कवियों के उपलब्ध वाङ्मय का अवलोकन-अवगाहन करने से ज्ञात होता है कि जैन धर्म में भक्ति की मंदाकिनी का उत्स सुदूर अतीत में भारत की उस श्रमण परम्परा से जुड़ा हुआ है जिसके प्रवर्तक नाभिराय के पुत्र वृषभ या ऋषभदेव माने जाते हैं और जो वर्धमान महावीर के दिव्य उपदेशों के रूप में गणधरों और आचार्यों द्वारा द्वादश अंगों में ग्रथित हुआ और जिसे

आचार्यों ने अपनी प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश में निबद्ध रचनाओं के माध्यम से आगे बढ़ाया ।

हिन्दी के जैन कवियों को प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश के आचार्यों का चिन्तन उनकी रचनाओं के माध्यम से विरासत के रूप में मिला । युगों-युगों के धार्मिक और दार्शनिक आन्दोलनों ने रचना माध्यमों में अनेक नई विधाओं को जोड़ा। नयी-नयी शब्दावली को समाकलित किया ।

हिन्दी के जैन कवियों ने प्राचीन आचार्यों की चिन्तन परम्परा को सुरक्षित रखते हुए बहुत सावधानी पूर्वक युगीन सांस्कृतिक मूल्यों को, नये-नये टकसाली शब्दों को, नयी काव्य विधाओं को, नयी राग-रागिनियों को अपनाया, आत्मसात किया, और अपने साहित्य में पिरोया । यही कारण है कि जैन कवियों के पद साहित्य में जहां जैन चिन्तन के दार्शनिक मूल्य सुरक्षित हैं, वहीं भक्ति आन्दोलनों, सूफी सन्तों की रहस्यवादी प्रवृत्तियों, निर्गुण और सगुण ब्रह्म की उपासनाओं सख्यभाव, दास्यभाव, दाम्पत्यभाव, नाम संकीर्तन आदि की महत्वपूर्ण विधायें, प्रयोग और शब्दावली सुरक्षित है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा में सुदूर अतीत में प्राकृत और संस्कृत में जो साहित्य लिखा गया, बाद में अपभ्रंश में जो रचनायें निबद्ध हुईं और उत्तर काल में हिन्दी अथवा क्षेत्रीय भाषाओं में जो साहित्य लिखा गया, उसमें जैन-दार्शनिक और धार्मिक चिन्तन का अन्तःसूत्र अखण्ड रूप से पिरोया हुआ है ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश भक्ति काव्य की परम्परा और उसके सन्दर्भ में जैन कवियों के हिन्दी पद साहित्य को समझने के लिए जैन धर्म के परम्परागत इतिहास, धार्मिक मान्यतायें तथा दार्शनिक सिद्धान्तों को समझना आवश्यक है । अतएव इस अध्याय में संक्षेप में हम उन जैन परम्पराओं और सिद्धान्तों का विवेचन करेंगे जिनको समझे बिना जैन भक्ति के स्वरूप और सिद्धान्तों को नहीं समझा जा सकता ।

जैन धर्म : परम्परागत इतिहास

अर्हत् या अरिहंत

जैन परम्परा और इतिहास दोनों ही दृष्टियों से अर्हत् या अरिहंत शब्द सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। ऋषभदेव को श्रीमद्भागवत् में आर्हत् धर्म का प्रवर्तन करने वाला कहा गया है। जैन धर्म में ऋषभदेव को प्रथम तीर्थंकर माना गया है।

उड़ीसा की खण्डगिरि नामक पर्वत की हाथीगुंफा में प्राप्त सम्राट खारवेल के दूसरी शती ईसा पूर्व के प्राकृत में लिखे गये शिलालेखका आरंभ `नमो अरिहंतानं` पद से हुआ है।[१]

इसी प्रकार `जिन` और `तीर्थंकर` शब्द भी अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। तीर्थंकरों के लिए भी `अर्हत` और `जिन` शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

`अर्हत्` और `जिन` शब्दों की जो व्याख्या साहित्य में उपलब्ध होती है,उससे कहा जा सकता है कि जैन परम्परा में `परमात्म-तत्व` के लिए एक सामान्य अभिधान `अर्हत्` या `जिन` है। इसे जैन भक्ति का केन्द्र बिन्दु माना जा सकता है।

नमस्कार मन्त्र में सर्वप्रथम `अर्हत्` को नमस्कार किया गया है --`णमो अरिहंताणं`।

तीर्थंकर परम्परा

जैन धर्म में चौबीस तीर्थंकर माने गये हैं। उन्हें `अर्हत्` या `अरिहन्त` तथा `जिन` नामों से भी अभिहित किया गया है। चौबीस तीर्थंकरों के नाम इस

१- विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य -- डा० हीरालाल जैन - भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान।

प्रकार हैं --

१- ऋषभ	२- अजित,	३- संभव,	४-अभिनन्दन,
५- सुमति	६-पद्मप्रभ,	७- सुपार्श्व,	८- चन्द्रप्रभ
९- पुष्पदन्त,	१०-शीतल,	११-श्रेयांस,	१२-वासुपूज्य
१३- विमल,	१४- अनन्त	१५- धर्म,	१६- शान्ति
१७- कुन्थु	१८- अरह	१९- मल्लि	२०- मुनिसुव्रत
२१- नमि	२२- नेमि	२३- पार्श्व	२४- वर्धमान अथवा महावीर

इन तीर्थंकर नामों में से प्राय: सभी के साथ उत्तरकाल में नाथ शब्द का भी प्रयोग मिलता है। जैसे-- ऋषभनाथ, अजितनाथ आदि[२]।

जैन भक्ति में तीर्थंकर उपास्यतत्व के रूप में निरूपित हुए हैं। प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी तथा अन्य देशीय भाषाओं में एक-एक तीर्थंकर के जीवन चरित्र का या एक साथ चौबीस तीर्थंकरों के जीवन चरित्र का निरूपण करने वाले अनेक ग्रन्थ लिखे गये। इन तीर्थंकरों की भक्ति में स्वतन्त्र रूप से या सम्मिलित रूप में स्तुति, स्तोत्रों, पदों आदि की रचना हुई।

तीर्थंकरों के जीवन की विशेष घटनाओं को साहित्यकारों ने अपनी कृति के लिए आधार रूप में अपनाया। इस दृष्टिसे जिस तीर्थंकर का चरित जितना अधिक घटना प्रधान है, उसके सम्बन्ध में उतना ही अधिक साहित्यरचा गया।

यहां इन तीर्थंकरों की ऐतिहासिकता या उनके चरित्रचित्रण में निबद्ध वर्णनों की तात्विकता का परीक्षण करना अभीष्ट नहीं है, प्रत्युत अभीष्ट यह है कि आगे भक्ति साहित्य के निर्माण और भक्ति सिद्धान्तों के निरूपण में तीर्थंकरों के जीवन चरित्र किस प्रकार आधार बने, इसकी पृष्ठभूमि को अवगत कर लिया जाये।

१- डा० गोकुलचन्द्र जैन - चौबीस तीर्थंकर।

तीर्थंकर की सामान्य विशेषताएं

तीर्थंकरत्व की अवधारणा का जो निरूपण साहित्य में हुआ है, उससे उसमें तात्विक और बाह्य दोनों स्वरूपों का विवरण प्राप्त होता है। तात्विक स्वरूप का निरूपण आगे `उपास्यतत्व` अध्याय के अन्तर्गत किया जायेगा। यहां उन स्थूल मान्यताओं की ओर दृष्टिपात करेंगे, जिनका उपयोग रचनाकारों ने अपनी कृतियों में किया है।

पंचकल्याणक

तीर्थंकर के जीवन की पांच प्रमुख घटनाओं को पंचकल्याणक कहा है। वे इस प्रकार हैं[3] --

१- गर्भकल्याणक।
२- जन्मकल्याणक।
३- तपकल्याणक।
४- ज्ञानकल्याणक।
५- मोक्षकल्याणक।

इन कल्याणकों का वर्णन सभी तीर्थंकरों के जीवन-चरित में समान रूप से मिलता है। संक्षेप में उस पर दृष्टिपात कर लेना इसलिए महत्वपूर्ण है, क्योंकि इनको आधार बना कर पर्याप्त साहित्य निर्मित हुआ है -- हिन्दी कवियों ने विभिन्न विधाओं में अनेक रचनाएं लिखीं

१- गर्भकल्याणक

तीर्थंकर के गर्भ में आने के ६ माह पूर्व से उसके माता-पिता की समृद्धि बढ़ने लगती है। इन्द्र अवधिज्ञान से तीर्थंकर के गर्भ में आने की बात को जान लेता है और कुबेर को भेज कर नगर का सुन्दर निर्माण कराता है। छह माह पूर्व से जन्म

३- पं० सुमेरचन्द्र दिवाकर, तीर्थंकर।

पर्यन्त रत्नों की वर्षा करता है। देवियां माता की सेवा करती हैं। माता मंगल स्वप्न देखती है, जिसका फल तीर्थंकर का जन्म होता है। इस प्रकार नव मास हर्ष-उल्लास में बीत जाते हैं।

गर्भ कल्याणक में कुबेर द्वारा दिव्य नारी की रचना और १५ महीने तक रत्नवर्षा, देवियों के द्वारा माता की सेवा, मंगल-स्वप्नदर्शन और उनका फल, ये वर्णन काव्यरचना के लिए ललित उपादान सिद्ध हुए।

२- जन्म-कल्याणक

तीर्थंकर का जन्म सारे संसार के लिए एक सुखद घटना होती है। कुछ क्षण के लिए उनको भी सुखानुभूति होती है, जिनका जीवन सम्पूर्ण रूप से दुःखमय है। स्वर्ग लोक में इन्द्र का आसन हिलने लगता है। अनेक प्रकार के वादित्र बजने लगते हैं। इन्द्र अपने ज्ञान से तीर्थंकर के जन्म की बात जान लेता है। वह कुबेर को बुला कर मायामयी अद्भुत गजराज का निर्माण कराता है, और उस पर बैठ कर देव-कुल के साथ तीर्थंकर का जन्मोत्सव मनाने के लिए निकल पड़ता है। नगर के पास पहुंच कर नगर की प्रदक्षिणा दे कर प्रवेश करता है। इन्द्राणी को प्रसूतिगृह में भेजता है। वह माता को नींद में सुला कर मायामयी बालक को वहां छोड़ कर तीर्थंकर को ले आती है। इन्द्र उसे सुमेरु पर्वत पर ले जा कर पाण्डुकशिला पर जन्माभिषेक करता है, बालक को दिव्य वस्त्रों और अलंकारों से भूषित करता है तथा तीर्थंकर बालक की स्तुति और आरती करता है। बाद में बालक को ला कर माता को सौंप देता है।

जन्म-कल्याणक का वर्णन इतना मधुर, ललित और आकर्षक है कि आगे चल कर 'वात्सल्य भाव' की उपासना के रूप में इसका विकास देखा जाता है। जिस तरह सूर ने कृष्ण के बाल रूप पर मुग्ध हो कर अनेक पदों की रचना की उसी प्रकार जैन कवियों ने तीर्थंकर के इस बालरूप को अंकित किया है।

३- तप या दीक्षा कल्याणक

जब तीर्थंकर गृह त्याग कर तपस्या के लिए निकलते हैं तब जो उत्सव मनाया जाता है, उसे तप या दीक्षा कल्याणक कहते हैं। तीर्थंकर के संन्यस्त होनेके पूर्व उनके मन में वैराग्य की भावना पनपने लगती है। लौकान्तिक देव आ कर उनकी इस भावना को संवर्धित करते हैं। तीर्थंकर याचकों को मनवाछा दान देते हैं और वस्त्राभूषण त्याग कर संन्यस्त हो जाते हैं। अपने हाथों से केशों का लोंच करते हैं और कठोर तपस्या में लीन हो जाते हैं।

मुनि और तीर्थंकर की तपस्या का वर्णन प्राय: समान रूप से मिलता है। वे अनेक प्रकार के उपसर्ग और परिषहों को सहन करते हुए कठिन तपस्या करते हैं। शत्रु-मित्र, कांच-कंचन, निंदा-स्तुति सब में उनका समभाव रहता है। उनकी ध्यानस्थ स्थिर मुद्रा को देखकर मृग उन्हें पाषाण समझ कर अपने शरीर को उनसे खुजलाते हैं।

अरि-मित्र महल-मसान कंचन-कांच निंदन-थुतिकरन।
अर्घावतारन असिप्रहारन में सदा समता धरन॥
सम्यक् प्रकार निरोध मन-वच-काय आतम ध्यावते।
तिन सुथिर मुद्रा देख मृग-गन उपल खाज खुजावते॥

-- दौलतराम, छहढाला, ढाल ६।

जैन कृतिकारों के लिए तपस्या और ध्यान का यह वर्णन रचना के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

४- ज्ञानकल्याणक

तपस्या के प्रतिफल जब तीर्थंकर को केवलज्ञान होता है तब इन्द्र आकर ज्ञानकल्याणक का आयोजन करता है। तीर्थंकर अब सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाते हैं। उनकी समवशरण सभाओं का आयोजन किया जाता है जिनमें उनके दिव्य उपदेश होते हैं। तीर्थंकर के अष्ट प्रातिहार्य तथा चौंतीस अतिशय प्रकट होते हैं।

केवलज्ञान, समवशरण और दिव्यध्वनि का वर्णन रचनाकारों ने सुन्दर

ढंग से किया है। समन्तभद्र ने लिखा है कि बिना किसी राग के और स्वयं के किसी स्वार्थ के बिना शास्ता प्राणियों के कल्याण के लिए उपदेश देता है। शिल्पी के कर स्पर्श से ध्वनित होता हुआ मुरज क्या कोई अपेक्षा करता है --

अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते।। -- -- रत्नकरण्डक

५- मोक्ष या निर्वाण कल्याणक

तीर्थंकर का निर्वाण होने पर निर्वाण या मोक्ष कल्याणक मनाया जाता है। नख और केशों को छोड़ कर उनके शरीर के परमाणु उड़ जाते हैं। वे शुद्धात्म स्वरूप में लोकाग्र पर जाकर स्थित हो जाते हैं। इन्द्र आकर उनके मायामयी शरीर की रचना करके उसका दाह संस्कार करता है।

इस प्रकार तीर्थंकरों के गर्भ में आने, जन्म लेने, तप के लिए जाने, केवल-ज्ञान के उत्पन्न होने और मोक्ष प्राप्त करने के अवसर पर जो उत्सव मनाये जाते हैं, उन्हें `कल्याणक` कहते हैं। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी के प्रबन्ध काव्यों में उनका अनुशीलनपरक विवेचन है। कल्याण करने के कारण ही वे कल्याणक कहलाते हैं। कवियों का मन गर्भ और जन्म कल्याणकों में अधिक रमा है। पुष्पदास के `पार्श्व-पुराण` में इन दोनों का बड़ा सरस वर्णन है। अन्य कवियों ने भी रुचिकवासिनी देवियों द्वारा मां की सेवा, सद्यःजात बाल-तीर्थंकर का पाण्डुक-शिला पर स्नान, इन्द्र का ताण्डव नृत्य और `आनन्द` नाटक आदि दृश्यों का सफलतापूर्वक अंकन किया है। उनमें प्राकृतिक छटा का समन्वय होने से सौन्दर्य और भी बढ़ गया है।

हिन्दी कवियों ने मुक्तक तथा पदों के रूप में भी पंच कल्याणक स्तुतियों का निर्माण किया है, जिसका उद्देश्य तीर्थंकर के प्रति अपनी भक्ति को व्यक्त करना है। पांडे रूपचन्द की `पंच मंगल स्तुति` प्रसिद्ध है। इन्द्र द्वारा तीर्थंकर के जन्मोत्सव के आयोजन का वर्णन प्राकृत, संस्कृत तथा अपभ्रंश के अनेक प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है।

उपलब्ध साहित्य में विमलसूरि का `पउमचरिय` प्राकृत का प्राचीन काव्य ग्रन्थ है, जिसमें तीर्थंकर के जन्मोत्सव का वर्णन है। रविषेण (वि०सं० ७३३) के संस्कृत पद्मचरित, स्वयम्भु (आठवीं शताब्दी ईसवी) के अपभ्रंश पउमचरिउ, आचार्य जिनसेन (८००-८८० ईसवी) के संस्कृत हरिवंशपुराण, भावज्जिनसेनाचार्य (९ वीं शताब्दी विक्रम) के संस्कृत आदिपुराण और पुष्पदन्त (१० वीं शती ईसवी) के अपभ्रंश महापुराण में तीर्थंकरों के जन्मोत्सव का विशद वर्णन हुआ है। इस अवसर पर इन्द्र, इन्द्राणी और अन्य देवताओं के साथ स्वर्ग से आता है और बाल-भगवान् को जन्माभिषेक के लिये पाण्डुकशिला पर ले जाता है। लौट आने पर वह ताण्डव नृत्य करता है। विक्रियाऋद्धि से बनाये गये सहस्र हाथ, उसके नृत्य में सहायक होते हैं। चंचल हाथों वाला वह इन्द्र ऐसा प्रतीत होता है, जैसे सहस्रों खिलती शाखाओं से युक्त कल्पवृक्ष ही हो। उसकी एक-एक भुजा पर एक-एक अप्सरा नृत्य करती है।

जन्मोत्सव के अवसर पर इन्द्र नाटक का भी आयोजन करता है। उसमें भगवान् के गर्भावतरण और जन्म सम्बन्धी कथानकों का अभिनय होता है।

भगवान् के समवशरण की रचना में `नाट्यशालाओं का निर्माण` किया जाता है। इन नाट्यशालाओं में देवकन्याएं नृत्य करते हुए, भगवान् के विजयगीत गाती हैं।

आचार्य यतिवृषभ ने लिखा है कि भवनवासी देव जन्म ग्रहण के पश्चात्, अन्तर्मुहूर्त में ही जिनालयों में जाते हैं और भगवान् की पूजा के उपरान्त श्रेष्ठ अप्सराओं से युक्त हो कर विविध नाटक करते हैं।

तीर्थंकरों के जीवन की विशेष घटनाएं[४]

तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव, बाइसवें नेमि, तेइसवें पार्श्व तथा चौबीसवें महावीर के जीवन चरित्र की कतिपय घटनाएं अत्यन्त रोचक, मनोहारी,

---

४- विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य --

मुनि हस्तिमल -- जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग १।

डा० गोकुलचन्द्र जैन -- चौबीस तीर्थंकर

प्रभावक तथा भक्ति के आलम्बन की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं। यही कारण है कि साहित्य में प्राचीन समय से लेकर हिन्दी कवियों तक अनवरत इनको आधार बना कर साहित्य रचा गया।

ऋषभ के द्वारा प्रजा को षट्कर्मोपदेश, ऋषभ की दीर्घ तपस्या, भरत और बाहुबलि युद्ध का विस्तृत विवरण मिलता है। श्रीमद्भागवत में ऋषभ को आर्हत् धर्म का प्रवर्तक कहा गया है। तीर्थंकर नेमि के जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घटना उनके विवाह के लिए बारात के साथ जूनागढ़ की राजकुमारी राजुल के घर तक पहुंचने तथा वहां बारात के स्वागत के लिए इकट्ठे किये गये पशुओं के करुणाक्रन्दन को देख-सुनकर विवाह का वेश त्याग कर सन्यस्त होने की है। नेमि-राजुल का यह अत्यन्त मधुर, प्रेरक और संवेगात्मक प्रसंग कृतिकारों के लिए वरदान सिद्ध हुआ। विभिन्न विधाओं में अनेक रचनाओं में इस प्रसंग का वर्णन किया गया।

भक्ति की दृष्टि से शृंगार और विरह की अभिव्यक्ति तथा दाम्पत्यरति के निरूपण के लिए यह घटना अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई।

तीर्थंकर पार्श्व के जीवन के दो प्रसंग -- १- कमठ को उद्बोध और नाग-नागनी का उद्धार तथा २- कमठ द्वारा ध्यानस्थ पार्श्व पर घोर उपसर्ग साहित्य में विशेष रूप से निबद्ध हुए हैं।

दार्शनिक चिन्तन

जैन दर्शन में 'जीव' और 'जगत' की अवधारणा जिस रूप में प्रस्तुत की गयी है, वह अन्य सभी भारतीय तथा भारतीयेतर दर्शनों से भिन्न है।

जैन धर्म में दो मूल द्रव्य माने गये हैं -- १- चेतन, २- अचेतन। इन्हें जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य भी कहा गया है।[५]

इन दोनों द्रव्यों का स्वभाव एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। कभी भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के रूप में परिवर्तित नहीं हो सकता। चेतन द्रव्य अचेतन नहीं हो सकता और अचेतन द्रव्य चेतन नहीं हो सकता। दोनों द्रव्यों में परिवर्तन होते हैं, किन्तु वे परिवर्तन स्वयं उसी द्रव्य तक सीमित रहते हैं।[६]

इस जैन दृष्टि को समझने के लिए सर्वप्रथम जैन दृष्टि से द्रव्य के स्वरूप पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है कि जो सत्ता रूप लक्षण से सहित है, अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है अथवा गुण और पर्यायों का आश्रय है, उसे द्रव्य कहते हैं।[७]

जो गुण और पर्यायों को प्राप्त होता है, वह द्रव्य है। द्रव्य सत्ता से अभिन्न है। अर्थात् सत्ता को ही द्रव्य कहते हैं।[८]

द्रव्य का न उत्पाद होता है और न विनाश। वह सदा अस्तित्व रूप रहता है। उसकी पर्याय ही उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य रूप परिणमन करती है।[९]

५- जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं।
देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा ।।-- द्रव्यसंग्रह, गा० १

६- प्रवचनसार, २।३

७- पंचास्तिकाय, गा० १०

८- वही, गा० ६

९- वही, गा० ११

सत् पदार्थ का नाश नहीं होता और न असत् का उत्पाद । गुण और पर्यायों में ही पदार्थ उत्पाद, व्यय करते हैं ।[१०]

द्रव्य के उपर्युक्त स्वरूप को तत्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामी ने अपने ग्रन्थ के सूत्रों में इस प्रकार निबद्ध किया है[११] ---

द्रव्य का लक्षण सत् है ।

सत् उत्पाद्, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता है ।

द्रव्य गुण और पर्यायवान् है ।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि जैन दृष्टि से मूल द्रव्य सत् रूप है । प्रत्येक द्रव्य में गुण और पर्यायें पाये जाते हैं । गुण अपरिवर्तनीय हैं, किन्तु पर्यायों का उत्पाद और विनाश होता रहता है । इस प्रकार द्रव्य न सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य । उसमें उत्पाद्, व्यय और ध्रौव्यत्व तीनों पाये जाते हैं । पूर्व पर्याय का विनाश और नई पर्याय की उत्पत्ति होती है किन्तु दोनों ही स्थिति में द्रव्य का अस्तित्व बना रहता है ।

समन्तभद्र ने उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त सत् के स्वरूप को उदाहरण द्वारा समझाते हुए लिखा है -- स्वर्ण के घट का, स्वर्ण के मुकुट का और केवल स्वर्ण का इच्छुक मनुष्य क्रमशः स्वर्ण घट का नाश होने पर शोक को और स्वर्ण-मुकुट के उत्पन्न होने पर हर्ष को और दोनों ही अवस्थाओं में स्वर्ण की स्थिति होने से माध्यस्थ्य भाव को प्राप्त होता है । यह सब सहेतुक होता है ।[१२]

इस प्रकार जैन दर्शन में द्रव्य को सांख्य[१३] की तरह एकान्तरूप से नित्य या

१०- पंचास्तिकाय, गा० १५

११- तत्वार्थसूत्र, ५। २९,३०,३८

१२- घटमौलि सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ।। --आप्तमी० का० ५९

१३- द्रष्टव्य, सांख्यकारिका ।

बौद्ध[१४] की तरह अनित्य नहीं माना गया है। वह कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य है। गुण अथवा अन्वय की अपेक्षा से वह नित्य है और पर्याय की दृष्टि से वह अनित्य है।

प्रत्येक द्रव्य सत् है। सत्तासामान्य का ग्रहण एकता का अन्तिम सोपान है, जहां सारे भेद भेद रूप से सत् होते हुए भी अभेद रूप से प्रतिभासित होते हैं। सत्ता भेदों को नष्ट नहीं करती अपितु उनमें एकत्व और सद्भाव स्थापित करती है। भेद रहते हुए भी जहां अभेद का दर्शन होता है, अनेकता में भी जहां एकता दिखाई देती है। इस दृष्टि से द्रव्य एक है।

द्रव्य के भेद

जैसा कि पूर्व में लिखा गया है, जैन दृष्टि से द्रव्य के मुख्य दो भेद हैं -- १- जीव द्रव्य, २- अजीव द्रव्य। चैतन्य धर्मवाला जीवद्रव्य है और उससे विपरीत अजीव अर्थात् अचेतन द्रव्य है। इस तरह सारा लोक दो भागों में विभक्त हो जाता है। चैतन्य लक्षण वाले जितने भी द्रव्य विशेष हैं वे सब जीव-विभाग के अन्तर्गत आ जाते हैं। जिनमें चैतन्य नहीं है इस प्रकार के जितने भी द्रव्य विशेष हैं उन सबका समावेश अजीव विभाग के अन्तर्गत हो जाता है।

अजीव द्रव्य के पांच भेद हैं। इस प्रकार जैन दर्शन में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल -- ये षड्द्रव्य माने गये हैं। इसमें पुद्गल द्रव्य रूपी कहा जाता है अर्थात् वह इन्द्रियों से देखा-जाना जा सकता है। शेष पांचों द्रव्य अरूपी हैं[१५]।

जीव आत्मा या चेतन तत्व

जीव या आत्मा चेतन द्रव्य है। वह उपयोगमय है। आचार्य कुन्दकुन्द ने

१४- यत् सत् तत्क्षणिकमेव। -- हेतुबि०, पृ० ५४

१५- अजीवकायाः धर्माधर्माकाशपुद्गलाः। -- त० सू० ५।१

कालश्च। वही, ५।३९

जीव के अनेक विशेषण दिये हैं -- जीव स्वयं प्रभु है, कर्ता है, भोक्ता है, स्वदेह-परिमाण है। ये सभी विशेषण कर्म संयुक्त जीव के हैं[१६]। नेमिचन्द्र सिद्धान्ती ने कतिपय अन्य विशेषण भी दिये हैं। इन्द्रियां, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास व्यवहार से जीव के माने जाते हैं। वास्तव में जीव का लक्षण चेतना ही है[१७]।

पांचों इन्द्रियों के उपभोग्य विषय, पांच इन्द्रियां, शरीर, मन, कर्म तथा अन्य जो कुछ मूर्तिक द्रव्य है, वह सब पुद्गल है।[१८]

अन्यत्र आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा[१९] है कि आत्मा का स्वभाव ज्ञान है। ज्ञान ज्ञेय के बराबर है। यह समस्त ज्ञेयों के भीतर है। इसका ज्ञान शुद्धोपयोग के प्रसाद से होता है। शुद्ध आत्मा के पास इन्द्रिय समूह नहीं है। इसलिए शुद्ध आत्मा को शरीर सम्बन्धी सुख-दुःख नहीं होता।

आत्मा और द्रव्य कूटस्थ नहीं हैं। ये समय-समय पर परिणमन किया करते हैं। इसलिए आत्मा ज्ञान-स्वभाव से और द्रव्य ज्ञेय-स्वभाव से परिणत होते हैं। इस प्रकार स्वभाव से परिणत आत्मा ज्ञान के आलम्बन भूत द्रव्यों को जानता है और ज्ञेय स्वभाव से परिणत द्रव्य ज्ञेय के आलम्बन ज्ञान में प्राप्त होते हैं।

इसी आत्मा पर कर्म कषायों का जब आवरण पड़ जाता है तब जीव बन्धन में पड़ जाता है। जब तक आवरण हटता नहीं तब तक जीव (आत्मा) मोहा

१६- जीवोत्ति हवदि चेदा उपओग विसेसदो पहु कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो णहि मुत्तो कम्मसंजुत्तो ।। -- पंचास्तिकाय, गा० २७।

१७- जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ।।
तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउ आणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्चयणयदो दु चेदणा जस्स ।।--द्रव्यसंग्रह, २-३

१८- पंचा०, ८२

को प्राप्त नहीं कर सकता है ।

आचार्य कुन्दकुन्द की ही तरह तत्वार्थसूत्रकार उमास्वामी ने आत्मा के स्वरूप विवेचन में लिखा है -- जीव का लक्षण उपयोग है[२०] और उपयोग आत्मा का लक्षण है । उपयोग का अर्थ ज्ञान और दर्शन होता है । चैतन्य आत्मा का धर्म है ।

आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है कि जीव, आत्मा या पुरुष चेतना स्वरूप है । स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से रहित है । अपने गुण-पर्यायों से समेत है । उत्पाद व्यय-ध्रौव्य से समाहित है । यह चेतन आत्मा अनादिकाल की परम्परा से अपने ज्ञान पर्यायों के द्वारा नित्य परिणमन करता है और अपने उन परिणामों का कर्ता भी है और भोक्ता भी[२१] ।

पूर्वाचार्यों की तरह आत्मा के स्वरूप की व्याख्या करते हुए सोमदेव ने लिखा है -- आत्मा ज्ञाता और द्रष्टा है, महान् और सूक्ष्म है, स्वयं ही कर्ता और स्वयं ही भोक्ता है । अपने शरीर के बराबर है तथा स्वभाव से ही ऊपर को गमन करने वाला है । यदि आत्मा को ज्ञान और दर्शन से रहित माना जायेगा तो अचेतन से उसमें कोई भेद नहीं रहेगा । अर्थात् जड़ और चेतन दोनों एक हो जायेंगे । और यदि ज्ञान मात्र को जीव माना जायेगा तो चित्र मित्र की तरह एक बुद्धि नहीं बनेगी[२२] ।

इस जीव या आत्मा के विषय में जैन दृष्टि को सूत्र रूप में इस प्रकार कह सकते हैं --

१- जीव चेतन है । अमूर्तिक है ।

२- जीव ज्ञानरूप है ।

१९- प्रवचनसार, गा० २०-२३

२०- तत्वार्थ०, २।८

२१- पुरुषार्थ० ९-१०

२२- उपासका० १०४-१०५

३- संसारी जीव स्वदेह परिमाण है।

४- अपने कर्मों का कर्ता और भोक्ता स्वयं है।

५- इन्द्रियां, मन आदि जीव नहीं हैं। व्यवहार से इनमें जीव शब्द का उपयोग किया जाता है।

लोक या जगत

जगत के लिए जैनधर्म में `लोक` शब्द का व्यवहार किया गया है।[२३] यह लोक छह द्रव्यों से स्वयं निर्मित है। इसे किसी ने रचा नहीं है।[२४] लोक में जो भी परिवर्तन होते हैं, वे द्रव्यों के स्वत: होते हैं। उनका करने वाला भी कोई अन्य नहीं है।[२५]

तिल्लोयपण्णत्तिकार ने लिखा है कि सर्वज्ञ भगवान् से अवलोकित यह लोक आदि और अन्त से रहित अर्थात् अनाद्यनन्त है, स्वभाव से ही उत्पन्न हुआ है, और जीव एवं अजीव द्रव्यों से व्याप्त है[२६]।

लोक का विवेचन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है कि जो क्षेत्र अनन्त आकाश में पुद्गल और जीवों से संयुक्त है और धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और काल इन से भरा हुआ है, वही क्षेत्र, अतीत, अनागत, वर्तमान, तीनों कालों में `लोक` ऐसे नाम से कहा जाता है।[२७]

सोमदेव ने लोक के स्वरूप के विषय में इस प्रकार लिखा है -- यह लोक निराधार है, निरालम्ब है, कोई इसे धारण किये हुए नहीं है, केवल तीन प्रकार की

२३- द्रष्टव्य, तिलोयसारो, तिल्लोयपण्णत्ति आदि।

२४- लोगो अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिव्वत्तो।
जीवाजीवहिं फुडो सव्वागासावयवो णिच्चो।।-- समणसुत्त, गा० ६५१

२५- समयसार, गा० ३२१-२३

२६- तिल्लोयपण्णत्ति, १।१३३

२७- प्रवचनसार, गा० ३६

वायु के सहारे से आकाश के बीचोबीच में यह ठहरा हुआ है। न इसकी कभी उत्पत्ति हुई है और न कभी विनाश ही होता है।[२८]

सृष्टिकर्तृत्व का निषेध

उपर्युक्त प्रकार से लोक के स्वरूप का प्रतिपादन करके जैन धर्म ने स्पष्ट रूप से ईश्वर द्वारा सृष्टि की रचना करने के सिद्धान्त को अस्वीकार किया है।

चार्वाक, जैन, बौद्ध और निरीश्वर सांख्य के अतिरिक्त सभी भारतीय धर्म-दर्शनों में ऐसा स्वीकार किया गया है कि इस विश्व में एक नित्य ईश्वर है जो सृष्टि-कर्ता है, सृष्टि का संरक्षक और संहारकर्ता है। यही सुख-दुःख को देने वाला है। कतिपय धर्मों के अनुसार वह जीव के कर्मों के अनुसार फल देता है। वह स्वयं सदा मुक्त है।[२९]

न्याय-वैशेषिक दर्शन में ईश्वर को परिभाषित करते हुए लिखा है कि जो संभव, असंभव तथा उससे भी भिन्न कार्यों को करने में समर्थ हो, वही ईश्वर है।[३०]

गौतम ने न्यायसूत्र में कहा है कि यदि कर्म ही के अधीन फल रहता तो कर्म करने के साथ फल मिल जाता, किन्तु ऐसा देखने में नहीं आता है। लोग कर्म करते हैं, इससे सूचित होता है कि कर्म फल की प्राप्ति किसी और के अधीन है। जिसके अधीन है, वह ईश्वर है।[३१] कर्म के अनुसार ही ईश्वर फल प्रदान करता है।

२८- निराधारो निरालम्ब: पवमानसमाश्रय: ।
नभोमध्यस्थितो लोक: सृष्टिसंहारवर्जित: ।।-- उपासकाध्ययन, १२० ।

२९-(क) विश्वतश्चक्षुरुतविश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वत: पात् ।
सम्बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावापृथिवी जनयन् देव एक: ।।--श्वेताश्वतरोपनिषद्, ३।३

(ख) अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मन: सुखदु:खयो: ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ।।--महाभारत, वनपर्व, ३०।२८

(ग) सदैव मुक्त: सदैवेश्वर: ।-- योगदर्शन भाष्य, १।२४

३०- कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ: स ईश्वर: । -- न्यायसूत्र, १।१।१९

न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ईश्वर की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ईश्वर जगत पिता है। सृष्टि के सभी नियम उसकी अनन्त बुद्धि के परिचायक हैं। संसार की विलक्षण रचना-चातुरी विश्वनियन्ता की असीम बुद्धि का प्रमाण है। ईश्वर की सहायता के बिना सृष्टि की रचना नहीं हो सकती। श्रुतिप्रमाण द्वारा भी ईश्वर का सर्वज्ञ अन्तर्यामी तथा अनन्त बुद्धिशाली होना सिद्ध है[३२]।

ईश्वर के सम्बन्ध में प्रमुख भक्तिपूर्ण विवेचन भगवद्गीता में हुआ है। यहां ईश्वर के हर पक्ष पर विचार हुआ है। न्याय-वैशेषिक के बाद इस ग्रन्थ का धर्म में प्रमुख स्थान है। जहां ईश्वर का विस्तृत विवेचन है। गीता के अनुसार हम पूर्णरूपेण ईश्वर के हाथ में हैं। इसलिए बिना शर्त हमें सर्वशक्तिमान् ईश्वर की शरण में चला जाना चाहिए[३३]। उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई भी कार्य नहीं हो सकता है। वह सबके हृदय स्थल में अवस्थित है। सब कुछ उसकी इच्छा के अनुकूल घूम रहा है[३४]।

जैन धर्म तर्कपूर्वक किसी ऐसी नित्य सत्ता को नहीं मानता जो जगतकर्ता एवं नियन्ता हो। ऐश्वर्यशाली, वैभवशाली, स्वामी और अधिकारी हो। अनादिकाल से संसार के कारण, क्लेश, कर्मफल और वासनाओं से सर्वथा अछूता हो। इस सम्बन्धमें आचार्य विद्यानन्द ने लिखा है --

नास्पृष्टः कर्मभिः शश्वद् विश्वदृश्वास्ति कश्चन।
तस्योपायसिद्धस्य सर्वथाऽनुपपत्तितः॥ -- आप्तपरीक्षा, का० ६।

अर्थात् कोई सर्व द्रष्टा सदा से कर्मों से अछूता नहीं हो सकता। क्योंकि बिना उपाय के उसकी सिद्ध पद की प्राप्ति करना असम्भव है।

३१-(क) ईश्वरः कारणम्, पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्। -- न्यायसूत्र, ४।१।१९
(ख) न्यायदर्शन, पृ० २१७
३२- वही, पृ० २१९
३३- भगवद्गीता, १८।३६
३४- वही, १८।६१

अन्य धर्मों में ईश्वर को अनादि माना गया है। इसलिए उसे कर्मों से अछूता माना गया है। चूंकि वह सृष्टि का कर्ता है इसलिए उसे अनादि माना गया है। जैन धर्म किसी को विश्व का रचयिता नहीं मानता। जैन धर्म के अनुसार प्रत्येक आत्मा की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। वह अपनी स्वतन्त्र सत्ता को बनाये हुए स्वयं के प्रयत्नों से मुक्त हो सकता है। परमात्मा बन सकता है। प्रत्येक जीव में इस पद को प्राप्त करने की क्षमता है। परन्तु अनादि काल से कर्म बन्धन के कारण वह शक्ति ढकी हुई है। जो जीव कर्म बन्धन को तोड़ लेता है, उसमें परमात्मा होने की शक्ति प्रकट होने लगती है और अन्त में वह परमात्मा हो जाता है। जगत की सृष्टि, नियंत्रण, न्याय से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। जैन दृष्टि से सृष्टि स्वयं सिद्ध है और जीव स्वयं अपने कर्मों के अनुसार फल पाता है।

तत्व व्यवस्था तथा कर्मसिद्धान्त

जैन धर्म में कर्मसिद्धान्त का विस्तारपूर्वक सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। ईश्वरकर्तृत्व को स्वीकार न करने के कारण स्वाभाविक रूप से कर्मसिद्धान्त को और अधिक महत्ता प्राप्त हुई।

जैन दृष्टि से कर्म अचेतन या जड़ रूप है, किन्तु जीव के साथ स्वर्णपाषाण में स्वर्ण और पाषाण की तरह अनादिकाल से सम्बद्ध है। जिस प्रकार स्वर्ण पाषाण के ताड़न, छेदन, भेदन आदि द्वारा स्वर्ण को निर्मल किया जा सकता है, उसी प्रकार आत्मा को भी कर्मों से सर्वथा मुक्त किया जा सकता है।

कर्म विषयक इस मूल चिन्तन ने जैन चिन्तन में सप्त तत्व के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया। सात तत्व इस प्रकार हैं -- १- जीव, २- अजीव, ३- आस्रव, ४- बन्ध, ५- संवर, ६- निर्जरा, ७- मोक्ष[३५]।

३५- जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम्। -- त० सू०, १।४

अजीव रूप कर्म से जीव को बद्ध करने के लिए उत्तरदायी आस्रव और बन्ध हैं तथा मुक्त करने के लिए उत्तरदायी संवर और निर्जरा हैं। सम्पूर्ण रूप से कर्मों की निर्जरा होने पर जीव कर्म-मुक्त हो कर अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

जैन आचार कर्म सिद्धान्त की आधारशिला पर निर्मित हुआ है इसलिए सामान्य रूप में कर्म सिद्धान्त पर दृष्टिपात करना उपयुक्त होगा।

जैन आचार्यों ने शरीर, वचन और मन की प्रवृत्ति को कर्मों का आस्रव माना है। यह शुभ और अशुभ दोनों प्रकार का होता है[३६]।

आस्रवित कर्मों का बन्ध कषाय के आधार पर होता है[३७]। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय, ये बन्ध के कारण हैं।[३८]

आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है कि मोह सहित अज्ञान से बन्ध होता है। जो अज्ञान मोहनीय कर्म प्रकृति लक्षण से युक्त है, वह स्थिति अनुभागरूप स्वफलदान समर्थ कर्म बन्ध का कर्ता है और जो अज्ञान मोह से रहित है वह (उक्त फलदान समर्थ) कर्म बन्ध का कर्ता नहीं है। जो अल्प ज्ञान मोह से रहित है उसे मोक्ष होता है, परन्तु मोह सहित अल्पज्ञान से कर्मबन्ध होता है।[३९]

आचार्य का कहना है कि कामादिक के उत्पाद रूप जो भाव संसार कार्य है वह विचित्र है और कर्मबन्ध की अनुरूपता से होता है। वह कर्मबन्ध अपने कारणों के अनुरूप होता है। जिन्हें कर्मबन्ध होता है, वे जीव शुद्धि और अशुद्धि के भेद से दो प्रकार के होते हैं।[४०]

३६- कायवाङ्मनःकर्म योगः। स आस्रवः। -- त० सू०, ६।१-२

३७- वही, ८।२

३८- वही, ८।१

३९- आप्तमीमांसा, का० ९८

४०- वही, ९९

प्रत्येक कर्म का फल कुछ न कुछ अवश्य होता है। चाहे हमें इसका ज्ञान हो या नहीं। जैसा कि हम देखते हैं कि जीव जन्म से मरण तक इतने कर्मों को करता है कि इन सभी कर्मों के फलों को इसी जीवन में प्राप्त करना कठिन है। इसलिए पुनर्जन्म की व्यवस्था की गयी है। इसका अर्थ है कि मानव को अपने पूर्वजन्म के कर्मों के फल को भोगने के लिए या उसके भोग को भोगने के लिए बारबार जीवन ग्रहण करना पड़ता है। जब तक कर्मफल नष्ट नहीं होता तब तक उसे पुनः पुनः जन्म ग्रहण करके उस भोग को भोगना पड़ता है। इस तरह जीव का कर्मचक्र जन्म-मरण के रूप से चलता रहता है। इसी को कर्मसिद्धान्त कहते हैं। जब तक आत्मा इन कर्मों के बन्धन से छूटता नहीं तब तक वह मुक्त नहीं होता।

जो जीव संसार में स्थित है अर्थात् जन्म और मरण के चक्र में पड़ा हुआ है, उसके रागरूप और द्वेष रूप परिणाम होते हैं। उन परिणामों से नये कर्म बन्धते हैं। कर्मों से गतियों में जन्म लेना पड़ता है। जन्म लेने से शरीर मिलता है। शरीर में इन्द्रियां होती हैं। इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करते हैं। विषयों के ग्रहण करने से इष्ट विषयों से राग और अनिष्ट विषयों से द्वेष उत्पन्न होता है। इस प्रकार संसार रूपी चक्र में पड़े हुए जीव के भावों के कर्मबन्ध से रागद्वेष रूप भाव रहते हैं। यही कारण है कि जीव अनादि काल से मूर्त्तिक कर्मों से बन्धा हुआ है जिसके कारण वह अमूर्त्तिक होते हुए भी मूर्त्तिक हो जाता है।

जैन दार्शनिकों का कहना है कि कर्म अपना फल स्वयं देते हैं। इसके लिए कर्म फल दाता या नियंता की आवश्यकता नहीं है। शराब, पीने पर नशा स्वयं होता है। इसके लिए किसी फलदाता या नियंता की आवश्यकता नहीं है।

कर्म करते समय यदि जीव का भाव शुद्ध होता है तो बन्धने वाले कर्म परमाणुओं पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। उनका फल भी शुभ होता है। और यदि भाव अशुद्ध हुए तो फल अशुभ होता है। जिस तरह मन के क्षोभ का प्रभाव भोजन पर पड़ता है और भोजन ठीक से नहीं पचता है। उसी तरह मानसिक भावों का प्रभाव अचेतन वस्तुओं पर पड़ता है।

सामान्य दृष्टि से कर्मों में भेद नहीं है। द्रव्य तथा भाव के भेद से कर्म के दो भेद माने गये हैं। ज्ञानावरणादि रूप पुद्गल का पिंड द्रव्य कर्म है। और इस द्रव्य पिण्ड में फल देने की जो शक्ति है वह भाव कर्म है। कर्म ग्रन्थों में इनका विस्तार से विश्लेषण किया गया है[४१]।

पुण्य और पाप

जैन धर्म में पुण्य और पाप को सात तत्वों के साथ गिना कर नव पदार्थ की संज्ञा दी गयी है।

पुण्य और पाप का निर्धारण शुभ और अशुभ की अवधारणा पर आधारित है तथा शुभ और अशुभ का निर्धारण कर्मसिद्धान्त के आधार पर किया जाता है। दूसरे शब्दों में कर्मों को शुभ और अशुभ, ऐसे दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। शुभ कर्म पुण्य का और अशुभ कर्म पाप का कारण है।[४२] पुण्य और पाप संसारी जीव की अपेक्षा से ही निर्धारित किये जाते हैं। मोक्ष की दृष्टि से दोनों ही बन्धन के कारण होने से त्याज्य हैं। कुन्दकुन्द ने लिखा है कि जिस प्रकार लोहे की बेड़ी पुरुष को बांधती है और सुवर्ण की भी बांधती है, उसी प्रकार शुभ-अशुभ कर्म जीव को बांधता है।[४३]

प्रशस्तराग, अनुकम्पा और कालुष्यहीनता पुण्य के कारण हैं।[४४] प्रमाद-बहुल प्रवृत्ति, कलुषता, विषयों की लोलुपता, दूसरों को संताप देना, दूसरों का अपवाद करना, आहार आदि संज्ञाएं, कृष्ण आदि तीन लेश्याएं, पंचेन्द्रियों की पराधीनता, आर्त्त-रौद्र-ध्यान, असत्कार्य में प्रयुक्त ज्ञान और मोह ये सब पापप्रद हैं।[४५]

४१- विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य, षट्खण्डागमसूत्र, कर्मग्रन्थ आदि।

४२- (क) सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावं ति भणिदं जीवस्स।--पंचास्तिकाय, गा० १३२
(ख) शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य। -- तत्वार्थसूत्र, ६।३

४३- समयसार, गा० १४६

४४- रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो।
चित्ते णत्थि कलुस्सं पुण्णं जीवस्स आसवदि।--पंचास्तिकाय, गा० १३५

४५- वही, गा० १३६-४०

धर्म रूप परिणत आत्मा शुद्धोपयोग युक्त होने पर निर्वाण सुख को तथा शुभोपयोग युक्त होने पर स्वर्गसुख को पाता है।[४६]

अशुभ के उदय से आत्मा कुत्सित नर, तिर्यंच, नारकी, हो कर हजारों दुःखों से दुखी होता हुआ सदा संसार में परिभ्रमण करता है।[४७]

जब आत्मा राग-द्वेष से युक्त हो कर शुभ या अशुभ कार्यों में प्रवृत्त होता है, तब कर्म-रूपी धूली ज्ञानावरणादि रूप में उसमें प्रवेश करती है।[४८]

आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है कि पाप पुण्य के सम्बन्ध में एकान्तता नहीं है। जो ऐसा मानते हैं कि मात्र पर को दुःख देने से पाप तथा सुख देने से पुण्य होता है तो यह सही सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि जब पर में सुख-दुःख का उत्पादन ही पुण्य-पाप का एक मात्र कारण होता तो फिर द्रव फलाई तथा विष कण्टादिक, अचेतन पदार्थ, जो दूसरों के सुख के कारण बनते हैं, पुण्य-पाप के बन्ध कर्ता होते ?परंतु कोई भी इन्हें पुण्य पाप के बन्ध कर्ता नहीं मानता। कांटा पैर में चुभ कर दूसरे को दुःख उत्पन्न करता है। इतने मात्र से उसे कोई पापी नहीं कहता और न पाप फल-दायक कर्म परमाणु ही उससे आ कर चिपटते अथवा बन्ध को प्राप्त होते हैं। इसी तरह द्रव फलाई बहुतों को आनन्द प्रदान करते हैं। परन्तु उनके इस आनन्द से द्रव फलाई पुण्यात्मा नहीं कहे जाते और उनमें पुण्य फलदायक कर्म परमाणुओं का न ऐसा कोई प्रवेश अथवा संयोग ही होता है जिसका फल इन्हें बाद को भोगना पड़े। यदि यह कहा जाए कि चेतन ही बन्ध के योग्य होते हैं, अचेतन नहीं तो फिर कषाय रहित वीतरागियों के विषय में आपत्ति को कैसे टाला जायगा ? वे भी अनेक प्रकार से दूसरों के सुख-दुःख के कारण न बनते हैं। उदाहरण के तौर पर किसी मुमुक्षु को मुनि दीक्षा देते हैं तो उसके अनेक सम्बन्धियों को दुःख पहुंचता है। शिष्यों तथा जनता को शिक्षा देते हैं तो उसके अनेक सम्बन्धियों को सुख पहुंचता है। पूर्ण सावधानी के साथ

४६- प्रवचनसार, गा० ११

४७- वही, गा० १२

४८- वही, गा० ६५

ईर्यापथ शोध कर चलते हुए भी कभी-कभी दृष्टिपथ से बाहर का कोई जीव अचानक कूद कर पैर तले आ जाता है और उनके पैर से दब कर मर जाता है। कायोत्सर्ग पूर्वक ध्यानावस्था में स्थित होने पर भी यदि कोई जीव तेजी से उड़ चला आ कर उनके शरीर से टकरा जाता है और मर जाता है तो इस तरह भी उस जीव के मार्ग में बाधक होने से वे उसके दुःखी होने के कारण बनते हैं। ऐसे और भी अनेक उदाहरण हैं जिनमें वे दूसरों के सुख-दुःख के कारण बनते हैं। यदि दूसरों के सुख-दुःख का निमित्त कारण बनने से ही आत्मा में पुण्य पाप का आस्रव बन्ध होता है तो फिर ऐसी स्थिति में कषाय रहित साधु कैसे पुण्य पाप के बन्धन से मुक्त होसकते हैं। यदि वे पुण्य-पाप के बन्धन में पड़ते हैं तो मोक्ष की कोई व्यवस्था नहीं बन सकती क्योंकि बन्ध का मूल कारण कषाय है और अकषाय भावमोक्ष का कारण है। यहां पर यदि कहा जाय कि उन साधुओं (अकषाय जीवों) को दूसरों के सुख-दुःख देने का अभिप्राय नहीं होता इसलिए दूसरों के सुख-दुःख की स्थिति में निमित्त कारण होने से वे बन्ध को प्राप्त नहीं होते, तो इस प्रकार यह कहना कि दूसरों के मात्र सुख-दुःख के मूल पुण्य-पाप का आस्रव होता है असत्य है। फिर अपने में भी मात्र सुख-दुःख से पुण्य-पाप नहीं होता। वहां अभिप्राय का होना अनिवार्य है। इस सबका अर्थ यह है कि अभिप्रायों को लिए हुए दुःख-सुख का उत्पादन पुण्य-पाप का हेतु है। अभिप्राय विहीन दुःख-सुख का उत्पादन पुण्य-पाप का हेतु नहीं है।[४६]

सुख-दुःख, चाहे अपने उत्पन्न किये जायें और चाहे पर के, यदि विशुद्धि (शुभ परिणामों) अथवा संक्लेश से पैदा होते हैं या उन परिणामों के जनक हैं तो क्रमशः उससे पुण्यास्रव और पापास्रव होता है। यदि ऐसा नहीं है तो जो दोष ऊपर दिया गया है उसका होना दुर्निवार है। यथार्थ में पुण्य और पाप अपने को या पर को सुख-

---

४६- पापं ध्रुवं परे दुःखात् पुण्यं च सुखतो यदि।
अचेतनाकषायौ च बध्येयातां निमित्ततः ॥
पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात् पापं च सुखतो यदि।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः ॥--आप्तमीमांसा, का० ९२-९३

दुःख पहुंचानेमात्र से नहीं होता है, अपितु अपने शुभाशुभ परिणामों पर उनका होना निर्भर करता है। जो सुख-दुःख शुभ परिणामों से जन्य हैं या उनके जनक हैं। उनसे पुण्य का आस्रव होता है। और जो अशुभ परिणामों से जन्य या उनके जनक हैं वे नियम से पापास्रव के कारण या कार्य हैं। यह वस्तु व्यवस्था है[५०]

पुण्य और पाप की इस सैद्धान्तिक अवधारणा के आधार पर आचार्यों ने शरीर, वचन और मन की प्रवृत्तियों को शुभ और अशुभ के रूप में वर्गीकृत किया है और उन्हें पुण्य या पाप बन्ध का कारण कहा है।

योग के शुभ और अशुभ दो भेद हैं। अहिंसादि शुभ काय योग है। सत्य बोलना, मित बोलना, हित करने वाली बातें बोलना आदि शुभवाक् योग है। अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु नामक इन पांच परमेष्ठियों में भक्ति रखना, तपस्या से रुचि होना, शास्त्र का शिक्षण इत्यादि शुभ मनोयोग है। इसके विपरीत तीन तरह के अशुभ योग हैं। प्राण लेना, चोरी करना, मैथुन आदि अशुभ काययोग हैं। झूठा, कठोर, असभ्य आदि भाषण करना अशुभ वाग्योग है। वध का चिन्तन, ईर्ष्या आदि अशुभ मनोयोग है। कर्म सर्वप्रथम काय, मन, वचन को प्रभावित करते हैं। यदि वे शुभ योग से प्रताड़ित होते हैं तो पुण्य बन्ध प्राप्त होता है और यदि ये अशुभ योग से संचालित होते हैं तो पाप बन्ध होता है।

पुरुषार्थ

आत्मवादी भारतीय धर्मों में चार पुरुषार्थ माने गये हैं -- १- धर्म, २- अर्थ, ३- काम और ४- मोक्ष। जैन धर्म में भी उक्त चारों पुरुषार्थ माने गये हैं। मोक्ष को सर्वश्रेष्ठ और अन्तिम रूप से प्राप्य माना है।

५०- विशुद्धिसंक्लेशांगं चेत् स्वपरस्थं सुखासुखम्।
पुण्यपापास्रवौ युक्तौ न चेदव्यर्थस्तवार्हतः ।।--आप्तमीमांसा, का० ९५

गृहस्थ जीवन में यदि प्रारम्भ के तीन पुरुषार्थों को सन्तुलित रूप में अपनाया जाये तो मोक्ष पुरुषार्थ भी सध सकता है।[५१]

आचार्य अमृतचन्द्र ने तो अपने ग्रन्थ का नाम ही पुरुषार्थसिद्ध्युपाय रखा है। उन्होंने लिखा है कि जब यह जीव समस्त विवर्तों को उत्तीर्ण करके अखंड चैतन्य को प्राप्त होता है तभी वह सम्यक् पुरुषार्थसिद्धि को प्राप्त कर कृतकृत्य होता है।[५२]

विपरीत अभिनिवेश को दूर कर आत्मतत्व को सम्यक् प्रकार निश्चय कर उस पर अविचल रहना, यही पुरुषार्थसिद्धि का उपाय है।[५३]

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन पर समुचित विचार करने से स्पष्ट दिखाई दे जाता है कि ये चार पुरुषार्थ यथार्थतः दो भागों में विभाजित करने योग्य हैं -- एक ओर धर्म और अर्थ तथा दूसरी ओर काम और मोक्ष। इनमें यथार्थतः पुरुषार्थ अन्तिम दो ही हैं -- काम और मोक्ष। काम का अर्थ है -- सांसारिक सुख, और मोक्ष का अर्थ है -- सांसारिक सुख, दुख व बन्धनों से मुक्ति। इन दो परस्पर विरोधी पुरुषार्थों के साधन हैं अर्थ और धर्म। अर्थ से धन दौलत आदि सांसारिक परिग्रह का तात्पर्य है जिसके द्वारा भौतिक सुख सिद्ध होते हैं, और धर्म से तात्पर्य है उन शारीरिक और आध्यात्मिक साधनाओं का जिनके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है।[५४]

५१- धर्मार्थकाममोक्षाणां त्रिवर्गो यदि सेव्यते।
अनर्गलमतः सौख्यमपवर्गमनुक्रमात्॥

५२- सर्वविवर्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमखंडमाप्नोति।
भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः॥ -- पुरुषार्थ०, ११

५३- विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग् व्यवस्य निजतत्वम्।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम्॥-- वही, १५

५४- डा० हीरालाल जैन - भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० २३६-४०

भारतीय दर्शनों में केवल एक चार्वाक मत ही ऐसा माना गया है, जिसने अर्थ द्वारा काम पुरुषार्थ की सिद्धि को ही जीवन का अन्तिम ध्येय माना है, क्योंकि उस मत के अनुसार शरीर से भिन्न जीव जैसा कोई पृथक् तत्व ही नहीं है जो शरीर के भस्म होने पर अपना अस्तित्व स्थिर रख सकता हो । इसलिए इस मत को नास्तिक कहा गया है । शेष वेदान्तादि वैदिक व जैन, बौद्ध जैसे अवैदिक दर्शनों ने किसी न किसी रूप में जीव को शरीर से भिन्न एक शाश्वत तत्व स्वीकार किया है, और इसी-लिए ये मत आस्तिक कहे गये हैं, तथा इन मतों के अनुसार जीव का अन्तिम पुरुषार्थ काम न हो कर मोक्ष है, जिसका साधन धर्म स्वीकार किया गया है । धर्म की इसी श्रेष्ठता के उपलक्ष्य में उसे चार पुरुषार्थों में प्रथम स्थान दिया गया है, और मोक्ष की चरम पुरुषार्थता को सूचित करने के लिए उसे अन्त में रखा गया है । अर्थ और काम ये दोनों साधन, साध्य-जीवन के मध्य की अवस्थाएं हैं, इसीलिए इनका स्थान पुरुषार्थों के मध्य में पाया जाता है ।[५५]

इस प्रकार जैन धर्मानुसार जीवन का अन्तिम ध्येय काम अर्थात् सांसारिक सुख को न मान कर मोक्ष को माना गया है । स्वभावतः प्रश्न होता है कि प्रत्यक्ष सुखदायी पदार्थों व प्रवृत्तियों को महत्व न दे कर मोक्ष रूप परोक्ष सुख पर इतना भार दिये जाने का कारण क्या है ? इसका उत्तर यह है कि तत्वज्ञानियों को सांसारिक सुख सच्चा सुख नहीं, किन्तु सुखाभास मात्र प्रतीत हुआ है । वह चिरस्थायी न हो कर अल्प-कालीन होता है , और बहुधा एक सुख की तृप्ति उत्तरोत्तर अनेक नई लालसाओं को जन्म देने वाली पाई जाती है । और जब हम इन सुखों के साधनों अर्थात् सांसारिक सुख-सामग्री के प्रमाण पर विचार करते हैं, तो वह असंख्य प्राणियों की लालसाओं को तृप्त करने के लिए पर्याप्त तो क्या होगी, एक जीव की अभिलाषा को तृप्त करने के योग्य भी नहीं ।

प्रत्येक प्राणी का अभिलाषा रूपी गर्त इतना बड़ा है कि उसमें विश्वभर की सम्पदा एक अणु के समान न कुछ के बराबर है । तब फिर सबकी आशाओं की पूर्ति

५५- डा० हीरालाल जैन - भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० २४०

कैसे, किसे, कितना दे कर की जा सकती है । अतएव सांसारिक विषयों की वासना सर्वथा व्यर्थ है । वह बाह्य वस्तुओं के अधीन होनेके कारण भी उसकी प्राप्ति अनिश्चित है, और उसके लिए प्रयत्न भी आकुलता और विपत्ति से परिपूर्ण पाया जाता है । उस ओर प्रवृत्ति के द्वारा किसी की कभी प्यास नहीं बुझ सकती, और न उसे स्थायी सुख-शान्ति मिल सकती है । इसीलिए सच्चे स्थायी सुख के लिए मनुष्य को अर्थ-संचय रूप प्रवृत्ति-परायणता से मुड़ कर धर्म-साधन रूप विरक्ति-परायणता का अभ्यास करना चाहिये, जिसके द्वारा सांसारिक तृष्णा से मुक्ति रूप आत्माधीन मौलिक सुख की प्राप्ति हो ।[५६]

मनु ने भी दु:ख और सुख की परिभाषा यही की है कि जो कुछ पराधीन है वह सब अन्ततः दुखदायी है और जो कुछ स्वाधीन है वही सच्चा सुखदायी सिद्ध होता है ।[५७]

मानवजीवन की श्रेष्ठता

जीव तत्व की दृष्टि से जैन धर्म में प्रत्येक जीवित प्राणी के 'जीवत्व' को समान माना है किन्तु सांसारिक या दूसरे शब्दों में मानव को सबसे अधिक विकसित और प्राणीजगत में सर्वश्रेष्ठ माना है । इस विकास की एक प्रक्रिया है, जिसका वर्णन करते हुए कृतिकारों ने मनुष्यजन्म की दुर्लभता और उसे निरर्थक व्यतीत न कर देने के लिए बार-बार चेताया है ।

जैन चिन्तकों ने जीवन की सबसे अविकसित अवस्था को निगोद कहा है । इस स्थिति में जीवन इतना अल्पस्थायी होता है कि जितनी देर में मनुष्य सामान्यतया श्वास लेता और छोड़ता है, उतनी देर में वह अठारह बार जन्म ले सकता है और

५६- आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम् ।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयेषणता ।। --

५७- सर्वं परवशं दु:खंसर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुख-दु:खयो: ।।-- मनु० ४, १६०

उतनी ही बार मर सकता है । शरीर की दृष्टि से वह इतना सूक्ष्म होता है कि आंख से तो दिखना असम्भव ही है, उसकी गति से न किसी को बाधा होती है और न किसी के कारण उसकी गति बाधित होती है ।

निगोद के बाद जीवन का शारीरिक और मानसिक दृष्टि से क्रमश: विकास होता है । सर्वाधिक विकसित अवस्था मनुष्य की है । संक्षेप में यह विकास-क्रम निम्नप्रकार है[५८] --

निगोद के बाद की श्रेणी को स्थावर कहा गया है । इसके अन्तर्गत वे जीव आते हैं, जिन्हें पंचभूत या जड़ जगत कहा जाता है । जैन दृष्टि से यह जड़ जगत नहीं है । इनमें भी जीवन है । इनको एकेन्द्रिय जीव कहते हैं । इनके अन्तर्गत पांच प्रकार के जीव आते हैं --

१- जिनका शरीर पृथ्वी (अर्थ) रूप है -- पृथ्वीकायिक । जीवित पाषाण (लिविंग स्टोन) आदि इसी के अन्तर्गत आते हैं ।

२- जिनका शरीर जल रूप है -- जलकायिक ।

३- जिनका शरीर अग्नि रूप है -- अग्निकायिक ।

४- जिनका शरीर हवा रूप है -- वायुकायिक ।

५- जिनका शरीर वनस्पति रूप है -- वनस्पतिकायिक ।

इस प्रकार जैन चिन्तकों ने वनस्पति जगत की ही तरह, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु में भी जीवन (लाइफ) माना है ।

तीसरी श्रेणी को द्वीन्द्रिय -- टू सेन्स्ड एनीमल्स -- कहते हैं । इनके शरीर और रसना अर्थात् खाने के लिए स्वतन्त्र इन्द्रिय होती है । लट, केंचुआ आदि इसके अन्तर्गत आते हैं ।

चौथी श्रेणी त्रीन्द्रिय जीवों की है । इनमें शरीर और रसना के साथ सूंघने की भी क्षमता होती है । ऐसे जीवों के अन्तर्गत चींटी आदि आते हैं ।

५८- द्रष्टव्य जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश -- जीव तथा सम्बद्ध सन्दर्भ ।

पांचवीं श्रेणी चतुरिन्द्रिय जीवों की है। इनके शरीर, रसना और घ्राण के साथ देखने की भी क्षमता होती है। ऐसे जीवों के अन्तर्गत मक्खी, मच्छर, कीट-पतंगा आदि आते हैं।

छठी श्रेणी पंचेन्द्रिय जीवों की है। इनके शरीर में खाने, सूंघने, देखने के साथ सुनने की भी क्षमता होती है। ऐसे जीवों के अन्तर्गत पशु तथा मनुष्य आदि आते हैं। पशुओं में कुछ पशु ऐसे होते हैं, जिनमें मानसिक विकास नहीं होता। इसलिए उनमें सोचने-समझने की शक्ति नहीं होती।

मानव की श्रेष्ठता

उक्त श्रेणियों में मनुष्य सबसे उच्च श्रेणी का माना जाता है। उसमें पांचों इन्द्रियों के पूर्ण विकास के साथ ही मन का पूरा विकास होता है। शारीरिक दृष्टि से वह अपने से कम विकसित पिछली सभी श्रेणियों से विशेष प्रकार का होता है। इस प्रकार विकास की दृष्टि से जीव जगत में मनुष्य सर्वाधिक विकसित प्राणी है।

मनुष्य में सोचने-विचारने और कार्य करने की क्षमता अन्य सभी प्राणियों की अपेक्षा अधिक और विशेष प्रकार की होती है। इसलिए उसे प्राणी जगत में सर्व-श्रेष्ठ माना गया है।

एक दूसरे प्रकार का वर्गीकरण भी प्राप्त होता है उसके अनुसार संसार के सम्पूर्ण जीव जगत को चार कोटियों में बांटा जाता है -- नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव।

यद्यपि इन चार कोटियों में सुख-सुविधा और साधन सामग्री की दृष्टि से देवों को सर्वश्रेष्ठ माना गया है, किन्तु व्यक्तित्व के चरम विकास की दृष्टि से इन चारों में भी मनुष्य ही श्रेष्ठ माना गया है। व्यक्तित्व के चरम विकास की पूर्णता मोक्ष में मानी गयी है। और यह मोक्ष मात्र मनुष्य देह से सम्भव बताया गया है। देवों को भी मोक्ष प्राप्त करने के लिए मनुष्य देह धारण करना आवश्यक बताया है। इस प्रकार सभी दृष्टियों से मानव की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है।

जिस प्रकार सम्यक्त्व की शुद्धि होने पर मुक्तिलाभ होता है, उसी प्रकार धर्म, अर्थ, काम रूप त्रिवर्ग का सार और सुख रूप रत्नों की खान वाला यह सभी पुरुषार्थों में प्रधान धर्म इस मनुष्य भव में ही सम्भव है। अतएव सज्जनों ने मनुष्य भव की प्रधानता मानी है।[५९]

जैसे शम भाव के बिना नीति, विनय के बिना विद्या, पवित्रता के बिना कीर्ति, तप के बिना पुण्यफल प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार मनुष्यभव के बिना धर्मसिद्धि नहीं होती।[६०]

मानव जीवन की श्रेष्ठता, दुर्लभता तथा उसे सार्थकता पूर्वक व्यतीत करने के लिए पर्याप्त साहित्य रचा गया है। इस विषय में हिन्दी कवियों ने अनेक पदों की रचना की है।

मोक्ष, निश्रेयस या निर्वाण तथा सिद्ध परमेष्ठी

मोक्ष को जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानने के कारण जैन आचार्यों ने मोक्ष तथा मोक्षमार्ग दोनों पर विस्तार से विचार किया है।

भक्त कवियों ने भक्ति का अन्तिम लक्ष्य जन्म-मरण के दुःखों से मुक्ति ही माना है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है कि जब यह जीव कर्ममल से विप्रमुक्त होता है, तब सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो कर ऊर्ध्वलोक के अन्तिम भाग को प्राप्त कर अनन्त अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त करने लगता है।[६१]

५९- त्रिवर्गसार: सुखरत्नखानिर्धर्मप्रधानं भवतीह येन।
सम्यक्त्वशुद्धाविह मुक्तिलाभ: प्रधानता तेन मतास्य सद्भि:।।अमितगतिश्रावकाचार, १३

६०- शमेन नीतिर्विनयेन विद्या शौचेन कीर्तिस्तपसा सपर्या।
विना नरत्वेन न धर्मसिद्धि: प्रजायते जातु जनस्य पथ्या।।--वही, १५

६१- कम्ममलविप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अंतमधिगंता।
सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं।।--पंचास्तिकाय, गा० २८

जो आत्मा पहले संसारावस्था में इन्द्रिय जनित बाधा सहित पराधीन और अपूर्तिक सुख का अनुभव करता था वही चिदात्मा मुक्त अवस्था में सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो कर अनन्त, अव्याबाध, स्वाधीन और अमूर्तिक सुख का अनुभव करता है।[६२]

तत्वार्थसूत्र के अन्तिम अध्याय में मोक्ष के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द की तरह ही विचार व्यक्त किये हैं। मोह के क्षय से तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय के क्षय से जीव केवलज्ञान प्राप्त करता है, फिर बन्ध के कारणों का अभाव तथा निर्जरा के द्वारा समस्त कर्मों से विप्रमुक्त हो कर मुक्त हो जाता है। उसके बाद लोक के अन्त तक ऊपर चला जाता है।[६३]

नि:श्रेयस

मोक्ष के लिए नि:श्रेयस शब्द का भी प्रयोग हुआ है। नि:श्रेयस का अर्थ है अत्यन्त कल्याण रूप -- "नितरां श्रेयो निश्रेयसम्।" आचार्य समन्तभद्र ने नि:श्रेयस शब्द का प्रयोग करते हुए उसे ही अत्यन्त कल्याणप्रद प्रतिपादित किया है। लिखा है --

जन्म, बार्धक्य, रोग, मरण, शोक, दु:ख और भय से परिमुक्त शुद्ध सुख सहित निर्वाण नि:श्रेयस माना जाता है।[६४]

धर्म का पालनकरने वाला सभी दु:खों से छूटता रहता हुआ, अन्तरहित सुख के समुद्र रूप निश्रेयस का पान करता है -- अनुभव करता है।[६५]

नि:श्रेयस को प्राप्त जीव विद्या, दर्शन, शक्ति, स्वास्थ्य, प्रह्लाद, तृप्ति और शुद्धि से युक्त हो कर निरतिशय, अवधि रहित सुख में जीते हैं।[६६]

६२- जादो सयं स चेदा सव्वण्हु सव्वलोगदरसी य।
पप्पोदि सुहमणंतं अव्वाबाधं सगमुत्तं ।। -- पंचास्तिकाय, गा० २६

६३- तत्वार्थसूत्र, १०।१-२,५

६४- रत्नक०, १३१

६५- वही, १३०

६६- वही, १३२

तीनों लोकों को सम्भ्रान्त करने वाला उत्पात भी हो तो भी सैकड़ों कल्प काल बीतने पर भी शिव (मुक्त) जीवों में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। कीट और कालिमा रहित सुवर्ण के समान देदीप्यमान, नि:श्रेयस को प्राप्त जीव त्रिलोक के शिखामणि की शोभा को धारण करते हैं।[६७]

निर्वाण

मोक्ष के लिए `निर्वाण` शब्द का भी प्रयोग जैन आचार्यों ने किया है।

निर्वाण का शाब्दिक अर्थ है --`नि:शेषेण वानं गमनं निर्वाणम्` अर्थात् सम्पूर्ण रूप से गमन करने को निर्वाण कहते हैं। निर्वाण के बाद जीव का संसार में पुनरागमन नहीं होता।

आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है कि यह जीव मोह के उपशम या क्षय होने पर जिनभाषित मार्ग को प्राप्त करके ज्ञानमार्ग का अनुचारी हो कर निर्वाणपुर को प्राप्त करता है।[६८]

समन्तभद्र ने निर्वाण को ही नि:श्रेयस की संज्ञा दी है।[६९]

जैन मनीषियों ने `मोक्ष` के स्वरूप का प्रतिपादन करने के साथ अन्य भारतीय दर्शनों में मान्य मोक्ष के स्वरूप की समीक्षा भी की है और तार्किक दृष्टि से उपर्युक्त जैन परिभाषा को प्रतिष्ठापित किया है।

समन्तभद्र ने लिखा है कि दोषों तथा आवरणों का नि:शेष रूप से अतिशय हानि (नाश) ठीक वैसे ही हो सकती है जैसे अन्तरंग और बाह्य मल का नाश।[७०]

६७- रत्नक०, १३३-३४

६८- उवसंतखीणमोहो मग्गं जिणभासिदेण समुवगदो।
णाणाणुमग्गचारी णिव्वाणपुरं वजदि धीरो ।।-- पंचा०, गा० ७०

६९- रत्नकर०, १३१

७०- दोषावरणयोर्हानिर्नि:शेषास्त्यतिशायनात्।
क्वचिथथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षय: ।।-- आप्तमी० का० ४

अकलंक[७१] और विद्यानन्द[७२] ने समन्तभद्र के उक्त कथन की विस्तृत मीमांसा की है तथा उसी सन्दर्भ में दर्शनान्तर सम्मत मोक्षस्वरूप की समीक्षा भी की है।

सोमदेव ने लिखा है कि रागद्वेषादिरूप आभ्यन्तर मल के क्षय हो जाने से जीव के स्व स्वरूप की प्राप्ति को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष में न तो आत्मा का अभाव ही होता है, न आत्मा अचेतन ही होता है और चेतन होने पर भी न आत्मा में ज्ञानादि का अभाव ही होता है[७३]।

न्यायदर्शन में मोक्ष को अपवर्ग कहा गया है और उसकी व्याख्या दु:खों से अत्यन्त विमोक्ष के रूप में की है। कहा गया है कि दु:ख, जन्मप्रवृत्ति दोष तथा मिथ्याज्ञान के उत्तरोत्तर दूर होने पर अपवर्ग प्राप्त होता है[७४]।

वैशेषिकों ने मोक्ष में बुद्धि आदि गुणों का भी पूर्ण उच्छेद माना है। आत्मा के सभी नव विशेष गुणों का अत्यन्त उच्छेद मोक्ष कहा गया है।[७५]

वैशेषिकों की इस परिभाषा का उपहास करते हुए कहा गया है कि इस से अच्छा तो वृन्दावन के रमणीय वन में शृगाल हो जाना है।[७६]

७१- आप्तमीमांसाभाष्य, का० ४

७२- अष्टसहस्री, का० ४

७३- आत्मानं विदुर्मोक्षं जीवस्यान्तर्मलक्षयात्।
नाभावो नाप्यचैतन्यं न न चैतन्यमनर्थकम्॥ -- उपासका० ११३

७४- दु:खात्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग:। --न्यायसू० १।१।२२
दु:खजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्ग:। न्या०सू० १।२१

७५- बुद्ध्यादिवैशेषिकगुणोच्छेद: पुरुषस्य मोक्ष:। --वैशे० सू०
नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छित्तिमोक्ष:। --प्रश० व्यो० पृ० ६३८

७६- वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम्।
वैशेषिकोक्तमोक्षात्तु सुखलेशविवर्जितात्॥ --स० सि० सं०, पृ० २८

सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष दो तत्व माने गये हैं। बन्धन और मोक्ष प्रकृति का होता है। पुरुष को सदैव मुक्त माना गया है। सांख्यकारिका में कहा गया है कि पुरुष न तो बद्ध होता है, न मुक्त होता है और न संसरण करता है। संसरण, बन्धन और मोक्ष नानाश्रया प्रकृति का ही होता है।[७७]

बौद्धदर्शन के अनुसार निर्वाण तृष्णा आदि क्लेशों का निरोध हो जाना है। नागसेन ने मिलिन्दप्रश्न में लिखा है कि निर्वाण के बाद व्यक्तित्व का सर्वथा अभाव हो जाता है। जिस प्रकार जलती हुई आग की लपट बुझ जाने पर दिखलायी नहीं जा सकती, उसी प्रकार निर्वाण प्राप्त हो जाने के बाद व्यक्ति दिखलाया नहीं जा सकता।

अश्वघोष ने लिखा है कि बुझा हुआ दीपक न तो पृथ्वी में जाता है, न अन्तरिक्ष में, न किसी दिशा में न विदिशा में, किन्तु तेल के समाप्त हो जाने से शान्त हो जाता है। इसी प्रकार निर्वाण को प्राप्त व्यक्ति भी न तो पृथ्वी में जाता है, न अन्तरिक्ष में, न किसी दिशा में, न किसी विदिशा में, किन्तु क्लेश के क्षय हो जाने पर शान्ति को प्राप्त हो जाता है।[७८]

उपर्युक्त विवेचन की समीक्षा करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जैन दृष्टि से मोक्ष जीव की पूर्ण रूपेण विशुद्ध अवस्था का नाम है। संसारी अवस्था में कर्म रूप मल से आवृत होने के कारण आत्मा का विशुद्ध स्वरूप प्रकट नहीं हो पाता। कर्म मल के पूर्ण रूप से पृथक होने पर आत्मा का विशुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है।

७७- तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः।। -- सांख्यका०, ६२

७८- दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचिद विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम्।।
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचित् क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम्।।
--सौन्दरनन्द, १६।२८-२९

इसीलिए मुक्त आत्मा को परमात्मा भी कहा गया है। यही सिद्धावस्था है। जोइन्दु ने सिद्ध और परमात्मा के अतिरिक्त अन्य शब्द का भी प्रयोग किया है।

मोक्ष की अवस्था में जीव का अपना मौलिक स्वरूप पूर्ण रूप से प्रकट हो जाता है। जीव ज्ञान रूप है। उसका यह रूप प्रकट हो जाता है। कुन्दकुन्द ने आत्मा के इस ज्ञानरूप का सर्वज्ञता के सन्दर्भ में युक्तियुक्त विश्लेषण किया है। उन्होंने लिखा है कि आत्मा ज्ञानप्रमाण है। ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है। ज्ञेय लोकालोक है। इसलिए ज्ञान (आत्मा) सर्वगत है।[७६]

सांख्यों की तरह जैन परम्परा में पुरुष या आत्मा को सर्वथा अबद्ध नहीं माना। संसारी अवस्था में अपने कर्मों का कर्ता और भोक्ता आत्मा स्वयं है।

नैयायिकों की तरह जैन दृष्टि से बुद्धि या ज्ञान आत्मा का आगन्तुक धर्म नहीं है, प्रत्युत उसका अपना स्वरूप है। इसी कारण जैन दृष्टि से मुक्तावस्था में जीव के गुणों का वैशेषिकों की तरह उच्छेद नहीं होता। प्रत्युत जीव आत्म स्वरूप को प्राप्त करता है।

बौद्ध दर्शन की तरह दीपक के बुझ जाने जैसा निर्वाण भी जैन दृष्टि से युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि जीवन का चरम लक्ष्य श्रेष्ठ और शाश्वत् सुख को मानने पर ही उसकी ओर प्रवृत्ति सम्भव है। दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति यदि दीपक के बुझ जाने की तरह है, तब इस प्रकार की दुःख-निवृत्ति की अपेक्षा ऐन्द्रिय सुखों की ओर प्रवृत्ति स्वीकार्य हो सकती है।

जैन दृष्टि से मोक्ष की अवस्था को प्राप्त होने के बाद पुनः आत्मा कर्म-बद्ध नहीं होता इसलिए जन्म आदि के दुःखों से सदा के लिए निवृत्त हो जाता है।

७६- आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोगालोगं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ।।-- प्रवचनसार, गा० २३

मोक्ष के स्वरूप की इस अवधारणा को मानव व्यक्तित्व के चरम विकास की स्थिति कहा जा सकता है।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण यह है कि अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए जीव को स्वयं पुरुषार्थ करना आवश्यक माना गया है। किसी को समर्पित कर देने अथवा किसी से अनुग्रह के रूप में इसे प्राप्त नहीं किया जा सकता।

इसी प्रकार मात्र सम्यग्दृष्टि या तत्वज्ञान से मुक्ति सम्भव नहीं है। मुक्ति के लिए सत्प्रवृत्तियों का पूर्ण विकास अपेक्षित है।

गृहस्थ जीवन सत्प्रवृत्तियों के विकास का प्रथम चरण है। क्रमशः अपनी अशुभ प्रवृत्तियों से विरत हो कर जब व्यक्ति शुभ प्रवृत्तियों का पूर्ण विकास करने की स्थिति को प्राप्त होता है तब उसे शुभ और अशुभ दोनों प्रवृत्तियां क्रमशः सुवर्ण शृंखला और लौह शृंखला की तरह प्रतीत होती है और वह निर्ग्रन्थ श्रमण बन कर दोनों से मुक्त हो कर अपने विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता है। यही मोक्ष है।

जैन मनीषियों ने इसी मोक्ष को प्राप्त करने का बार-बार निर्देश किया है। हिन्दी के जैन भक्त कवि भी अपनी भक्ति का फल यही चाहते हैं कि उन्हें भव-भव के दुःखों से छुटकारा मिल कर मोक्ष प्राप्त हो।

मोक्षमार्ग

जैन धर्म-दर्शन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र को मोक्षमार्ग कहा गया है। ये तीनों मिल कर मोक्ष का मार्ग माने गये हैं।[८०] इन्हें रत्नत्रय भी कहा गया है।

मोक्षमार्ग के अन्तर्गत ही आचार्यों ने तत्वचिन्तन का भी विवेचन किया है और इसी के अन्तर्गत आचार विषयक सिद्धान्तों का भी विश्लेषण किया गया है।

८०- हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनः क्रिया।
धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पंगुलः ॥—तत्वार्थवार्तिक, पृ० १४

दूसरे शब्दों में सम्यग्दर्शन के अन्तर्गत तत्वमीमांसा, सम्यग्ज्ञान के अन्तर्गत ज्ञानमीमांसा तथा सम्यक्चारित्र के अन्तर्गत चारित्रमीमांसा समाहित है ।

मोक्षमार्ग के विषय में कुन्दकुन्द ने लिखा है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त रागद्वेष रहित सम्यक्चारित्र मोक्ष का मार्ग है । यह मोक्षमार्ग लब्धबुद्धि भव्यों को ही प्राप्त होता है ।[८१] आगे कुन्दकुन्द ने लिखा है कि जीव आदि पदार्थों का श्रद्धान सम्यक्त्व, उनका अधिगम ज्ञान तथा समभाव चारित्र है । यह दृढ़तापूर्वक मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होने वालों को ही प्राप्त होता है ।[८२]

तत्वार्थसूत्र के सर्वप्रथम सूत्र में आचार्य ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है ।[८३]

नेमिचन्द्र सिद्धान्ति ने मोक्षमार्ग का विवेचन करते हुए लिखा है -- सम्य-ग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये मोक्ष के कारण हैं ।[८४]

श्रावकाचार का विवेचन करने वाले सभी ग्रन्थकारों ने श्रावकाचार की तात्विक पृष्ठभूमि के रूप में सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन आदि का प्रतिपादन किया है । उसके बाद श्रावकाचार का विवेचन किया है ।

समन्तभद्र ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म[८५] कह कर आगे के पद्यों में इनकी विस्तार से व्याख्या की है । सम्यग्दर्शन की व्याख्या ३८ पद्यों में[८६] की गयी है ।

८१- सम्मत्तणाणजुत्तं चारित्तं रागदोसपरिहीणं ।
मोक्खस्स ण्हदि मग्गो भव्वाणं लद्धबुद्धीणं । -- पंचा०, गा० १०६ ।

८२- सम्मत्तं सद्दहणं भावाणं तेसिमधिगमो णाणं ।
चारित्तं समभावो विसयेसु विरूढमग्गाणं ।। -- वही, गा० १०७

८३- सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः । — तत्वा० सू० १

८४- सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे ।
ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ।।- - द्रव्य सं०,गा० ३९

८५- सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वराः विदुः । — वही, ३

८६- वही, ४-४६

अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में सम्यग्दर्शन आदि का विवेचन करने के पूर्व यह भी कहा है कि वास्तव में सर्वप्रथम यतिधर्म का ही उपदेश देना चाहिए, बाद में गृहस्थ धर्म का। जो यतिधर्म का उपदेश दिये बिना गृहस्थ धर्म का उपदेश देता है, उस अल्पमति को दण्डनीय माना गया है।[८७] आचार्य का कहना है कि क्रमपूर्वक कथन करने से मुनिधर्म धारण करने के लिए काफी-कुछ उत्साहित हुआ शिष्य भी अपद में (गृहस्थधर्म में) ही सन्तुष्ट हो कर रह जाता है।[८८]

आगे आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में लिखा है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग को यथाशक्ति निसेवित करना चाहिए।[८९]

सोमदेव[९०] आदि अन्य आचार्यों ने भी श्रावकाचार विषयक अपने ग्रन्थों में पहले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का निरूपण किया है बाद में चारित्र के अन्तर्गत श्रावकाचार का विवेचन किया गया है।

सम्यग्दर्शन

आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है कि जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष को यथार्थरूप में जानना सम्यक्त्व है।[९१]

ठाणांग नामक तृतीय अर्धमागधी आगम में आचार्य कुन्दकुन्द की तरह ही जीव आदि को नव पदार्थ कहा है।[९२]

८७- पुरुषार्थसिद्धि०, १८

८८- वही, १९

८९- वही, २०

९०- उपासका०, ४

९१- भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥-- समयसार, १३

९२- ठाणांग, ९।६६५

तत्वार्थसूत्रकार ने तत्वार्थश्रद्धान् को सम्यग्दर्शन कह कर आगे तत्वों के जीव आदि नाम गिनाये हैं।[९३]

समन्तभद्र ने परमार्थ आप्त, आगम और तपोभृत् के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है तथा उसे त्रिमूढ़ता और आठ मद रहित तथा आठ अंग युक्त बताया है।[९४]

आगे आप्त, आगम और तपोभृत् के स्वरूप को प्रतिपादित करके तीन मूढ़ताओं और आठ मदों तथा आठ अंगों का भी विवेचन किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में जीव आदि तत्वार्थ के श्रद्धान् को सम्यग्दर्शन कहा है।[९५]

सोमदेव ने आप्त, आगम और पदार्थों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। तीन मूढ़ताओं रहित तथा अष्टांगों सहित होना चाहिए। प्रशम, संवेग आदि इसके गुण हैं।[९६] अन्तरंग और बहिरंग कारण मिलने पर होता है।

सोमदेव ने उपासकाध्ययन के प्रथम इक्कीस कल्पों में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान का विवेचन किया है।

वसुनन्दि ने लिखा है कि आप्त, आगम और तत्वों का निर्मल श्रद्धान् जो शंका आदि दोष रहित हो, उसे सम्यक्त्व कहते हैं।[९७]

तत्वों का विवेचन कर्म सिद्धान्त के अन्तर्गत किया गया है, इस कारण यहाँ उसकी पुनरावृत्ति नहीं की गयी।

९३- त० सू०, १।२,४

९४- श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम्। -- रत्नकर०, का० ४

९५- पुरुषार्थ०, २२

९६- उपासका०, श्लो० ४८

९७- उपासकाध्ययन, गा० ६

आप्त का स्वरूप या देव तत्व

आप्त के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए समन्तभद्र ने तीन विशेषणों का प्रयोग किया है। उनका कहना है कि आप्त को निश्चय ही दोषरहित, सर्वज्ञ और आगमेशी होना चाहिए अन्यथा वह आप्त नहीं हो सकता।

आप्त के इस स्वरूप में समन्तभद्र ने आप्त को समस्त कर्ममल से रहित, सर्वज्ञ और हितोपदेशी कहा है।

आप्त के स्वरूप की मीमांसा में आचार्य ने आप्त मीमांसा नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की है और उस कसौटी पर सही उतरने वाले को आप्त माना है।[९८]

आचार्य का कहना है कि आप्त पुरुष वही हो सकता है जिसमें क्षुत्, पिपासा, जरा, आतंक, जन्म, मृत्यु, भय, स्मय और राग, द्वेष तथा मोह नहीं होते। ऐसा आप्त ही परमेष्ठी, परंज्योति, विराग, विमल, कृती, सर्वज्ञ, अनादि मध्यान्त, सार्व-सर्वहितकर तथा शास्ता कहा जाता है। ऐसा शास्ता ही अनात्मार्थी, राग के बिना जीवों के लिए कल्याण का उपदेश ठीक वैसे ही देता है जैसे शिल्पी के करस्पर्श से बजता हुआ मुरज वाद्य किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं करता।[९९]

राग, द्वेष और मोह युक्त जीव सर्वज्ञ नहीं हो सकता इसलिए वह मोक्ष मार्ग का उपदेष्टा भी नहीं हो सकता। मोक्षमार्ग के उपदेष्टा के लिए कर्मरहित होना आवश्यक है। कर्मरहित होने पर ही वह सर्वज्ञ हो सकता है।

सोमदेव ने आप्त का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि जो सर्वज्ञ है, सभी लोकों का स्वामी है, सभी दोषों से रहित है, सभी प्राणियों का हित

९८- द्रष्टव्य, आप्तमीमांसा

९९- आप्तेनोत्सन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥-- रत्नक०, ५-८

करने वाला है, उसे आप्त कहते हैं ।[१००]

इसके बाद आप्तस्वरूपमीमांसा नामक दूसरे कल्प में आप्त की विस्तृत मीमांसा की है ।[१०१]

समन्तभद्र या अन्य किसी जैन आचार्य ने यह नहीं कहा कि अमुक व्यक्ति को देव या आप्त मानना चाहिए प्रत्युत उन्होंने आप्तता की एक कसौटी प्रस्तुत कर दी । आगे के आचार्यों को आप्त के स्वरूप का विश्लेषण करने में इससे बड़ी सरलता हुई । विद्यानन्द ने इसी को आधार बना कर `आप्तपरीक्षा` नामक ग्रन्थ की रचना की ।[१०२] हरिभद्र ने इसी आधार पर कहा कि न मुझे वीर (महावीर) में पक्षपात है न कपिल आदि में द्वेष । जिसके वचन युक्तियुक्त हों उन्हें मानना चाहिए ।[१०३]

आगम या जिनवाणी

आगम के स्वरूप की व्याख्या करते हुए समन्तभद्र ने आगम को निम्नांकित विशेषणों से विशिष्ट बताया है[१०४] --

१- आप्तोपज्ञ -- आप्त के द्वारा उपज्ञ -- ज्ञात ।

२- अनुल्लंघ्य - जिसका उल्लंघन न किया जा सके ।

३- अदृष्टेष्टविरोधी -- प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रमाणों से जिसमें विरोध न आए ।

४- तत्वोपदेशकृत् -- तत्वों का उपदेश करने वाला ।

५- सार्व - सर्व जीव हितंकर ।

६- कापथघट्टन -- कुमार्ग का निराकरण करने वाला ।

१००- सर्वज्ञं सर्वलोकेशं सर्वदोष-विवर्जितम् ।
सर्वसत्वहितं प्राहुराप्तमाप्तमतोचिता: ।। -- उपासका० श्लो० ४६

१०१- वही, श्लो० ५०-६३

१०२- द्रष्टव्य, आप्तपरीक्षा

१०३- षड्दर्शनसमुच्चय, पृ० ४८२

१०४- आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।
तत्वोपदेश कृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ।।-- रत्नकर० क० ६

सोमदेव ने लिखा है कि सबसे पहले आप्त (देव) की परीक्षा करनी चाहिए बाद में उसके वचनों की परीक्षा करनी चाहिए । तब उसमें अपने मन को लगाना चाहिए । जो देव की परीक्षा किये बिना ही उसका आदर करते हैं, वे अन्धे हैं तथा उस देव के कन्धे पर हाथ रख कर सद्गति प्राप्त करना चाहते हैं । जैसे माता-पिता के शुद्ध होने पर सन्तान शुद्ध होती है वैसे ही देव के शुद्ध होने पर आगम में शुद्धता आती है ।[१०५]

आगमपदार्थपरीक्षा नामक तीसरे कल्प में सोमदेव ने आगम और उसमें प्रतिपादित पदार्थों का विस्तार से विश्लेषण किया है ।

तपोभृत् या गुरु का स्वरूप

समन्तभद्र ने लिखा है कि तपस्वी या गुरु वही हो सकता है जो विषयों की अभिलाषाओं से वशीभूत न हो, आरम्भ रहित हो, परिग्रह रहित हो, ज्ञान, ध्यान तथा तप में अनुरक्त हो । प्रशस्त तपस्वी ही सच्चा गुरु हो सकता है ।[१०६]

गुरु की इस परिभाषा में आचार्य, उपाध्याय और साधु समाहित हैं ।

गुरु मूढ़ता के प्रसंग में समन्तभद्र ने कुगुरु की श्रद्धा-सेवा का निषेध किया है ।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग

सम्यग्दर्शन के स्वरूप का उपर्युक्त विवेचन करने के बाद समन्तभद्र ने आठ अंगों का विवेचन किया है । यह भी कहा है कि अंगहीन सम्यग्दर्शन जन्म-सन्तति का वैसे ही उच्छेद नहीं कर सकता जैसे एक अक्षर से न्यून होने पर भी मन्त्र विषवेदना

१०५- उपासकाध्ययन, कल्प ३

१०६- विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञानध्यान तपोरत्नस्तपस्वी स प्रशस्यते ।।-- रत्नकर०, का० १०

को दूर नहीं कर सकता ।[१०७]

आठ अंग इस प्रकार हैं --

१- नि:शंकित	२- नि:कांक्षित	३- निर्विचिकित्सा	४-अमूढ़दृष्टि
५- उपगूहन	६- स्थितिकरण	७- वात्सल्य	८-प्रभावना

इनका स्वरूप इस प्रकार है[१०८] --

आप्त, आगम, तपस्वी तथा जीवाजीवादि के स्वरूप में स्थिर हो कर (ऐसा ही है, अन्य नहीं है और अन्य प्रकार का नहीं है) श्रद्धा करना नि:शंकित अंग है ।

सम्यक्दर्शन, धारण कर उसके फल स्वरूप किसी सांसारिक सुख की आकांक्षा नहीं रखना सम्यग्दर्शन का नि:कांक्षित अंग है ।

निर्विचिकित्सा का अर्थ है ग्लानि रहित होना । मनुष्य का शरीर स्वभाव से अपवित्र अवश्य है परन्तु अखण्ड रत्नत्रय की साधना से यह पवित्र हो जाता है । अत: सम्यक्दृष्टि व्यक्ति यह समझ कर अपने तथा अन्य सम्यग्दृष्टि के शरीर के प्रति भी ग्लानि का अनुभव नहीं करता ।

कुमार्ग में स्थित किसी जीव को फूलते-फलते देख कर ऐसा मन में नहीं लाना चाहिए कि वह अच्छा कर रहा है, या यह नहीं कहना चाहिए यह मार्ग अच्छा है । अथवा इस मार्ग का पालन करने वाला मनुष्य अच्छा है । ऐसा करना अमूढ़दृष्टित्व नामक गुण है ।

उपगूहन का अर्थ है कि अखण्ड रत्नत्रय के साधनों की न्यूनताओं का निराकरण करना । बहुत से ऐसे अज्ञानी और असमर्थ साधक होते हैं जो पूरी पवित्रता के साथ रत्नत्रय का पालन नहीं कर पाते । सम्यक्दृष्टि व्यक्ति उन दोषों का निराकरण करते हैं । बाल और असक्त मनुष्यों के आश्रय से रत्नत्रय और रत्नत्रय के धारक

१०७- नांगहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम् ।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनम् । -- रत्नकर०, का० २१

१०८- वही, का० ११-१८

व्यक्ति में आये हुए दोष का प्रच्छन्न करना (जो सम्यग्दृष्टि का कर्त्तव्य है) उपगूहन अंग है।

स्थितिकरण में दर्शन आदि से विचलित पुरुष को स्थित कर दिया जाता है। कोई जीव द्रव्य बाह्य आचरण करता हुआ भी श्रद्धा से पतित हो सकता है। कोई श्रद्धायुक्त होने पर भी शरीरिक आसक्ति एवं प्रमाद के कारण बाह्य आचरण से भ्रष्ट हो सकता है तथा कोई कर्मोदय की तीव्रता के कारण श्रद्धा और आचरण दोनों से भ्रष्ट हो सकता है। ऐसे पुरुषों में धर्म से स्नेह रखने वाले पुरुषों के द्वारा पुनः स्थित किया जा सकता है। सद्धर्मी भाइयों के प्रति कपट रहित आन्तरिक एवं धार्मिक स्नेह का होना वात्सल्य गुण है।

अज्ञान रूपी अन्धकार के विस्तार को दूर कर अपनी शक्तियों के अनुसार जिनशासन के महत्व को प्रकट करना प्रभावना गुण है।

समन्तभद्र की तरह ही वसुनन्दि ने सम्यक्त्व के आठ अंगों का प्रतिपादन किया है[१०९] और कहा है कि शंका आदि दोष रहित तथा निःशंका आदि गुण सहित जो सम्यक्त्व कर्म निर्जरा का हेतु होता है, वही उत्कृष्ट सम्यक्त्व है।[११०]

तीन मूढ़ता

आचार्य समन्तभद्र श्रद्धा की बात करते हैं तो इससे उनका आशय अन्ध-विश्वास या अन्धी भक्ति से नहीं है। इसलिए उन्होंने तीन प्रकार की मूढ़ताओं से सावधान रहने का उपदेश दिया है[१११]। ये मूढ़तायें हैं -- १- लोक मूढ़ता, २- देव मूढ़ता और ३- गुरु मूढ़ता।

१०९- उवासयाज्झयण, गा० ४८

११०- वही, गा० ५१

१११- भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिंगिनाम् ।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ।। -- रत्नकर०, का० २०

१- लोकमूढ़ता -- अन्ध श्रद्धालु हो कर प्रयोजन का विचार किये बिना लौकिक कार्यों को करने का नाम लोक मूढ़ता है। जैसे मोक्ष का साधन मान कर समुद्र या नदियों में स्नान करना, पर्वत, पत्थरों, बालू की मूर्ति बना कर पूजा करना पर्वत से गिरना या पति के मर जाने पर सती होने के लिए अग्नि में प्रवेश करना लोक मूढ़ता कहलाती है।[११२]

२- देवमूढ़ता -- देव का लक्षण है वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी होना। इसके विपरीत यदि कोई देव राग द्वेष से परिपूर्ण और उपासना करने से प्रसन्न होता है तथा उपासना नहीं करने से रुष्ट होता है तो वह अदेव है। प्राय: ऐसा देखा जाता है कि सांसारिक फलों की प्राप्ति के प्रति आसक्त व्यक्ति ऐसे ही राग द्वेष से सम्पन्न देवों की आराधना करते हैं। जिसे सम्यग्दृष्टि नहीं कहा जा सकता। सम्यक्दृष्टि में धर्माचरण की प्रधानता रहती है और इसमें फल की कामना नहीं होती। इस प्रकार देव मूढ़ता में ऐसे कुदेवों के प्रति सावधानी बरती जाती है।[११३]

३- गुरु मूढ़ता -- गुरुमूढ़ता का दूसरा शास्त्रीय नाम पाषण्ड (पाखंड) मूढ़ता भी है। आचार्य समन्तभद्र ऐसा मानते हैं कि मोक्षमार्ग में गुरु की महत्ता निर्विवाद है इसलिए सद्गुरु के प्रति ही श्रद्धा होनी चाहिए इसके लिए सद्गुरु और पाखण्डी गुरु के बीच विवेक करना आवश्यक है। बहुत से ऐसे भी गुरु हो सकते हैं जो दास-दासियों का परिग्रह करते हैं और सांसारिक कार्यों में संलग्न रहते हैं। ऐसे गुरुओं की प्रशंसा करना तथा उनके धार्मिक कार्यों का अनुसरण पाखण्ड मूढ़ता कही जाती है।[११४]

११२- रत्नकर०, का० २२

११३- वही, का० २३

११४- सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्त्तवर्तिनाम् ।
पाखण्डं पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम् ।। -- वही, का० २४

आठ प्रकार के मद

सम्यग्दृष्टि को तीन मूढ़ताओं की तरह आठ प्रकार के मदों से भी बचना आवश्यक है। आठ मद इस प्रकार हैं --

१- ज्ञानमद , २- पूजनीयता का मद , ३- कुलमद , ४- जातिमद,
५- बलमद , ६- ऋद्धिमद , ७- तपमद , ८- स्व शरीरमद ।

इन मदों से गर्वित चित्त हो कर जो व्यक्ति धर्म में स्थित अन्य लोगों का तिरस्कार करता है, वह अपने धर्म का ही तिरस्कार करता है।[११५]

समन्तभद्र के अनुसार चण्डाल कुल में उत्पन्न हुए व्यक्ति भी सम्यग्दर्शन से युक्त हो कर भस्म से आच्छादित अंगार के समान तेज युक्त है तथा मोक्षमार्ग के गामी हैं। सम्यग्दर्शनादि से कुत्ता भी देव हो जाता है तथा इनके अभाव से देव भी कुत्ता हो जाता है। इनसे ऐसी सम्पत्ति प्राप्त होती है जो वचनों द्वारा नहीं कही जा सकती। सम्यग्दर्शन से युक्त जीव राजा आदि के भय से भी आतंकित नहीं रहता, न उसमें अनुराग रहता, न किसी वस्तु की आशा होती है और न उसे लोभ सताते हैं। फिर इनके लिए उन्हें कुदेवों, कुगुरु और कुशास्त्रों को नमस्कार करने की आवश्यकता नहीं है।[११६]

ज्ञान और चारित्र से सम्यक्त्व की महत्ता

सम्यग्दर्शन की उत्कृष्टता बताते हुए समन्तभद्र ने लिखा है कि सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा श्रेष्ठ है। क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना ग्यारह अंग नौ पूर्व तक का ज्ञान और महाव्रत रूपी चारित्र सम्यग् व्यवहार को प्राप्त नहीं होते। इसलिए गणधरादिक देव उसे मोक्षमार्ग रूपी नाव के (कर्णधार) खेवटिया की उपमा देते हैं। उन्होंने और आगे उदाहरण दे कर स्पष्ट किया है "बीजाभावे तरोरिव" अर्थात् बीज के अभाव में वृक्ष की तरह। सम्यक्त्व के न होने पर ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति स्थिति वृद्धि और फल की उद्भूति नहीं होती है।[११७]

११५- रत्नकर०, का० २५-२६
११६- वही, का० २८-३०
११७- वही, का० ३१-३२

सम्यक्दर्शन से युक्त गृहस्थ सम्यग्दर्शन से रहित मुनि से श्रेष्ठ है क्योंकि सम्यग्दर्शन से युक्त होने के कारण गृहस्थ मोहनीय कर्म से दूर है।[११८] संसार में सम्यक्-दर्शन से बढ़ कर जीवों का कोई दूसरा मित्र नहीं है और मिथ्यात्व से बढ़ कर कोई दूसरा शत्रु नहीं है क्योंकि सम्यग्दर्शन के होने पर अनन्त संसार सान्त हो जाता है जिसे सम्यग्दर्शन हो जाता है वह अर्ध पुद्गल परिवर्तन से अधिक काल तक संसार में नहीं रहता। सम्यग्दर्शन के अस्तित्व काल में नारकी जीव को भी जो आत्मीय आनन्द होता है वह मिथ्यादृष्टि अहमिन्द्र को भी दुर्लभ है।[११९] सम्यग्दर्शन से शुद्ध जीव व्रत रहित होने पर भी नरक, तिर्यंच, नपुंसक, स्त्री, नीच कुल, विकलांग अवस्था, अल्प आयु और दरिद्रता को प्राप्त नहीं करता।[१२०] जिनेन्द्र भक्त सम्य-दृष्टि पुरुष अपरिमित प्रतिष्ठा ज्ञान तथा सुदर्शन नाम चक्ररत्न को प्राप्त करता है। अपनी-अपनी पृथ्वी के अधिपति मुकुटबद्ध राजाओं के द्वारा पूजनीय होता है तथा उत्तम धामादि अथवा चारित्रिक लक्षण से युक्त अनुष्ठाता या प्रणेता तीर्थंकरादि के समूह को प्राप्त कर अन्त में मोक्ष को प्राप्त करता है।[१२१]

अमृतचन्द्र ने लिखा है कि सर्वप्रथम पूर्ण प्रयत्नपूर्वक सम्यक्त्व की समुपासना करना चाहिए, क्योंकि उसके होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होते हैं।[१२१क]

सम्यग्ज्ञान

सम्यक्त्व के द्वारा दृष्टि की शुद्धता हो जाने और आप्त, आगम तथा

११८-११९- गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ।।--रत्नकर०, का० ३३

१२०- सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ।।--वही, का० ३५

१२१- वही, का० ३६-४१

१२१क-तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चारित्रं च ।।-- पुरुषार्थ० २१

तत्वार्थ का सत्श्रद्धान हो जाने के बाद मोक्षमार्ग पर बढ़ने के लिए दूसरी साधना सम्यक्-ज्ञान की है ।

सम्यग्दर्शन होने के बाद ही ज्ञान में सम्यक् रूपता आती है । इसलिए सम्यग्दर्शन के बाद ज्ञानाराधना का क्रम बताया गया है ।

दर्शन और ज्ञान में अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर है जिसे कारण और कार्य का सम्बन्ध कहा जा सकता है ।

जैसे घनपटल के दूर होते ही सूर्य का प्रताप और प्रकाश प्रकट हो जाते हैं उसी प्रकार आत्मा से मोहान्धकार हटते ही दर्शन और ज्ञान प्रकट हो जाते हैं ।

सम्यग्ज्ञान के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए समन्तभद्र ने लिखा है कि वस्तु स्वरूप का अन्यून, अनतिरिक्त, यथातथ्य, विपरीतत तथा सन्देह रहित हो कर ज्ञान सम्यग्ज्ञान है ।[१२२]

सम्यग्ज्ञानी पुण्य-पुरुषों के चरित और पुराण की व्याख्या करने वाले प्रथमानुयोग को, लोक-अलोक, कालपरिवर्तन आदि का विवेचन करने वाले करणानुयोग को, गृहस्थ और मुनियों के आचार का विवेचन करने वाले चरणानुयोग को तथा जीव-अजीव, पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष आदि का विवेचन करने वाले द्रव्यानुयोग को अच्छी तरह जानता है ।[१२३]

सम्यग्ज्ञान के विषय में अमृतचन्द्र ने लिखा है कि जिन्होंने सम्यक्त्व का आश्रय लिया है, और जो आत्महित के इच्छुक हैं, उनको आगम की आम्नाय और प्रमाण-नय रूप युक्ति के योग से प्रयत्नपूर्वक वस्तुस्वरूप का विचार कर नित्य ही सम्यग्ज्ञान की उपासना करनी चाहिए । यद्यपि सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन के साथ ही उत्पन्न होता है फिर भी दोनों में दीपक और प्रकाश की तरह कारण और कार्य का भेद है ।

१२२- अन्यूनमनतिरिक्तं यथातथ्यं विन च विपरीतात् ।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ।। -- रत्नकर०, ४२

१२३- वही, क० ४३-४६

इसलिए वस्तु के अनेकान्तात्मक स्वरूप को संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय रहित जानने का अध्यवसाय करना चाहिए।[१२४]

सोमदेव ने लिखा है कि जो सब वस्तुओं को ठीक रीति से जैसा का तैसा जानता है, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। यह मनुष्यों का तीसरा नेत्र है। जैसे जन्म से अन्धे मनुष्य की लाठी ऊंचे-नीचे स्थान को बतला कर उसे चलने और रुकने में मदद देती है, वैसे ही सम्यग्ज्ञान हित और अहित का विवेचन करके धर्मात्मा पुरुष को हितकारक कार्यों में लगाता है। ऐन्द्रिय ज्ञान दृष्ट पदार्थों का ज्ञान कराता है किन्तु आगम दृष्ट और अदृष्ट -- प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों का ज्ञान करा देता है। इसलिए यदि मन मत्सर रहित है तो उसे तत्वज्ञान होना दुर्लभ नहीं है।[१२५]

तत्वों के जान लेने के बाद भी यदि मनुष्य की बुद्धि अन्धकार में रहती है तो जैसे उल्लू के लिए प्रकाश व्यर्थ होता है, वैसे ही उस मनुष्य का ज्ञान भी व्यर्थ है।[१२६]

नेमिचन्द्र सूरि ने लिखा है कि अपने और पर को ठीक-ठीक जानना अर्थात् संशय, विमोह और भ्रम से रहित वस्तु के स्वरूप को पहचानना सम्यग्ज्ञान है।[१२७]

सामान्य से ज्ञान एक है। प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से वह दो प्रकार का है तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान के भेद से पांच प्रकार का है। केवलज्ञान के अतिरिक्त अन्य ज्ञानों में से प्रत्येक के अनेक भेद हैं। सिद्धान्तग्रन्थों में जैन आचार्यों ने ज्ञानमीमांसा का विस्तृत विश्लेषण किया है।

१२४- पुरुषार्थ०, ३२-३६

१२५- उपासका०, श्लो० २५६-५८

१२६- यथर्थं दर्शितोऽपि स्याज्जन्तो संतमसा मतिः।
ज्ञानमालोकवत्तस्य वृथा रविरिपोरिव ॥-- वही, श्लो० २५६

१२७- द्रव्य संग्रह, गा० ४२

सम्यक्चारित्र

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की साधना के बाद सम्यक्चारित्र की आराधना मोक्षमार्ग को प्राप्त करने के लिए अनिवार्य है। पूर्व में कहा गया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र, ये तीनों मिल कर मोक्ष मार्ग हैं, पृथक्-पृथक् नहीं।

समन्तभद्र ने लिखा है कि मोहतिमिर के नष्ट होने पर सम्यग्दर्शन के लाभ से जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो गया है, ऐसा साधु (सम्यग्दृष्टि) रागद्वेष की निवृत्ति के लिए चारित्र को धारण करता है।[१२८]

रागद्वेष की निवृत्ति से हिंसादि की निवृत्ति हो जाती है। अर्थनिवृत्ति की अपेक्षा न रखने वाला कौन पुरुष राजा की सेवा करेगा।[१२९]

दार्शनिक दृष्टि से सम्यग्दर्शन मोहनीय कर्म की दर्शनमोहनीय प्रकृति के दूर होने पर होता है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद चारित्र मोहनीय की निवृत्ति के लिए प्रयत्न किया जाता है। राग-द्वेष की निवृत्ति से हिंसा आदि की निवृत्ति स्वतः हो जाती है।[१३०] हिंसा, झूठ, अनृत, चोरी, मैथुन और परिग्रह को पाप के प्रणाल समझना चाहिए। इनसे विरत होना चारित्र है।[१३१]

जैन आचार्यों ने चारित्र के दो भेद किये हैं। समन्तभद्र ने लिखा है कि - चारित्र सकल और विकल के भेद से दो प्रकार का है। सर्वसंगविरत (परिग्रहरहित) अनगारों के लिए सकलचारित्र है तथा ससंग (परिग्रहयुक्त) सागारों (गृहस्थों) के लिए विकलचारित्र।[१३२]

१२८- मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः॥ -- रत्नकर०, का० ४७

१२९- रागद्वेषनिवृत्तेर्हिंसादि निवर्तनाकृता भवति।
अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन्॥ -- वही, का० ४८

१३०- वही, का० ४७-४८।

स्वामी कार्तिकेय ने लिखा है कि सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट धर्म दो प्रकार का है — एक तो परिग्रहासक्त गृहस्थों का और दूसरा परिग्रहरहित मुनियों का।[१३३]

इसी प्रकार वसुनन्दि ने भी सागार और अनगार के भेद से धर्म्म (चारित्र) दो प्रकार का बताया है।[१३४]

सोमदेव ने लिखा है कि अधर्म कार्यों से निवृत्ति और धर्म कार्यों में प्रवृत्त होने को चारित्र कहते हैं। वह सागार और अनगार के भेद से दो प्रकार का है। सागार का चारित्र देशचारित्र तथा अनगार का चारित्र सर्वचारित्र कहलाता है। जिनके चित्त सद्विचारों से युक्त हैं, वे ही चारित्र का पालन कर सकते हैं। जिसमें स्वर्ग या मोक्ष किसी को भी प्राप्त कर सकने की योग्यता नहीं है, वह न तो देशचारित्र ही पाल सकता है और न सर्वचारित्र ही पाल सकता है।[१३५]

सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति का शास्त्रज्ञान मुख की खाज खुजलाने के समान है और जो ज्ञान रहित है उसका चारित्र धारण करना कुरूप (दुर्भग) व्यक्ति के आभूषण धारण करने के समान है।[१३६]

सम्यग्दर्शन से अच्छी गति मिलती है। सम्यग्ज्ञान से संसार में यश फैलता है। सम्यक्चारित्र से सम्मान प्राप्त होता है और तीनों से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[१३७]

तत्वों में रुचि का होना सम्यग्दर्शन है। तत्वों का कथन कर सकना सम्यक् ज्ञान है और समस्त क्रियाओं को छोड़ कर अत्यन्त उदासीन हो जाना सम्यक्चारित्र है।[१३८]

१३१- रत्नकर०, का० ४६

१३२- वही, का० ५०

१३३- कत्तिगेयाणुवेक्खा, गा० ३

१३४- वसु, उपासका०, गा० २

१३५- उपासका, २६२-६४

१३६- वही, श्लो० २६५

१३७- सम्यक्त्वात् सुगतिः प्रोक्ता ज्ञानात्कीर्तिरुदाहृता।
वृत्तात्पूजामवाप्नोति त्रयाच्च लभते शिवम् ।।-- वही, श्लो० २६६

सम्यक्चारित्र अग्नि है। सम्यग्ज्ञान उपाय है तथा सम्यक्त्व रसौषधि है। इन सबके मिलने पर आत्मारूपी पारद धातु अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है।[१३९]

सम्यग्दर्शन का आश्रय चित्त है। सम्यग्ज्ञान का आश्रय अभ्यास है। सम्यक्-चारित्र का आश्रय शरीर है। दान आदि का आश्रय धन है।[१४०]

आचार्य कुन्दकुन्द का कहना है कि ज्ञान और अप्रतिहत दर्शन ये जीव के अनन्य स्वभाव हैं। इनमें निश्चल और अनिन्द्रिय अस्तित्व चारित्र है।[१४१]

जिसे जानता है वह ज्ञान है, जिसे देखता है वह दर्शन कहा गया है। ज्ञान और दर्शन के संयोग से चारित्र होता है। जीव के ये ज्ञानादि तीनों भाव अक्षय तथा अभेद्य होते हैं।[१४२]

जीव के चारित्र है, दर्शन है, ज्ञान है, यह व्यवहार से कहा जाता है। वास्तव में न ज्ञान है, न चारित्र है, न दर्शन। वह जीव का शुद्ध स्वरूप है।[१४३]

साधु पुरुष को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की नित्य आराधना करनी चाहिए। निश्चय से ये तीनों तथा आत्मा एक ही है।[१४४]

१३८- उपासका, श्लो० २६७

१३९- वृत्तपवित्रनरूपायो धी: सम्यक्त्वं च रसौषधि: ।
साधुसिद्धो भवेदेष तल्लाभादात्मपारद: ।।-- वही, श्लो० २६८

१४०- वही, श्लो० २६९

१४१- पंचास्तिकाय, गा० १५४

१४२- जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं भणियं ।
णाणस्स पिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्तं ।।
एए तिण्णिवि भावा हवंति जीवस्स अक्खयामेया ।।--चारित्रप्राभृत,गा० ३,४

१४३- ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं ।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ।।-- समयसार,गा० ७

१४४- दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ।।--वही, गा० १६

नेमिचन्द्र सूरि ने लिखा है कि रत्नत्रय अर्थात् सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये आत्मा के परिणाम हैं । आत्मा के सिवाय अन्य द्रव्य में नहीं होते, इसलिए उन तीनों से युक्त आत्मा ही मोक्ष का कारण है ।[१४५]

सम्यग्दर्शन , सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र को समन्वित रूप में मोक्ष मार्ग मानने के कारण जैन परम्परा में न तो ऐकान्तिक रूप से भक्ति पर बल दिया गया, न ज्ञान पर और न ज्ञान रहित तपस्या पर । इसलिए भक्त जब भी कामना करता है, या तो वह रत्नत्रय की, कामना करता है या फिर सम्यक्त्व की, क्योंकि सम्यक्त्व के बिना वह ज्ञान और चारित्र दोनों की निरर्थकता को जानता है ।

आगे के अध्यायों में हम देखेंगे कि जैन भक्ति के विकास में उपर्युक्त धार्मिक और दार्शनिक मान्यताएं किस प्रकार आधार भूमि सिद्ध हुईं । किस प्रकार युगों-युगों के भक्ति आन्दोलनों को आत्मसात् करने के लिए जैन मनीषियों को अपनी धार्मिक और दार्शनिक परम्पराओं में विस्तृत क्षेत्र प्राप्त हुआ और किस प्रकार सूफीसन्तों की रहस्यवादी प्रवृत्तियों, निर्गुणिया सन्तों की निर्गुणोपासना, वैष्णव भक्ति की सगुण धारा, की विविध प्रवृत्तियों को अपनी उपासना पद्धति में समाहित करने के बाद भी वे तत्वमीमांसीय आधारों को संरक्षित कर सके ।

अहिंसा, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के एक ऐसे सुदृढ़ धरातल पर जैन आचार शास्त्र का प्रासाद निर्मित हुआ था कि तान्त्रिक साधनाओं का प्रबल आवेग भी उसे खण्डित नहीं कर सका ।

१४५- रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुयत्तु अण्णदवियम्हि ।
तम्हा तत्तियमइओ होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा ।।--द्रव्य सं०,गा० ४०